RAJA HUKUMTEJ PARTAP SINGH OF PARTAPNER, ETAWAH

The Indian Press, Ltd., Allahabad.

समर्पण

अवध के ताल्लुकेदारों में उदारचेता

ब्राह्मण कुलालंकरण

स्वर्गवासी श्रीमान् वाजपेयी चन्द्रभाल जी

करदहाधिपति की स्मृति में

उनके अनेक देशहितैषी कार्यों के उपलक्ष में

इस

"योगत्रयी"

नामक पुस्तक को मैं सादर समर्पण करता हूँ।

वाजपेयीजी का कृपाभाजन,

प्रसिद्ध नारायण

भूमिका

राजयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग तीनों ईश्वरप्राप्ति के पृथक २ मार्ग हैं। भक्तियोग इन तीनों में व्यापक है। मैं तो कहूँगा कि प्रत्येक एक दूसरे में व्यापक हैं। राजयोगी कर्म योग और ज्ञानयोग का अनुभव स्वभाव ही से करता है। कर्मयोगी भी यदि राजयोग और ज्ञानयोग का साधन और अध्ययन करे तो उसका पथ भी सुगम और उसकी गति तीव्र हो जाती है। वैसे ही यदि ज्ञानयोगी राजयोग और कर्मयोग का अभ्यास करे, जिसको प्रायः वह करता ही है, तो उसका कार्य भी सरल हो जाता है। भक्ति माता की भांति योगी का लालन करती है।

राजयोग तो एक पृथक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में मैंने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का दिग्दर्शन करा दिया है। इन सब बातों के जान लेने से मनुष्य बहुत कुछ अपने और परमेश्वर के विषय में जान सकता है और अपने कार्य को सरल बना सकता है। इसी अभिप्राय से इन तीनों योगों का सारांश योगी रामाचारक जी के Advanced course in Yogi Philosophy (एडवांस्ड कोर्स इन योगी फिलासफी) से लेकर लिखा गया है। आशा है कि इससे जिज्ञासुओं और साधकों को बड़ी सहायता मिलेगी।

रामनिवास कोठी,
रायबरेली।
३-११-१९१७

प्रसिद्ध नारायण।

योगत्रयी।

कर्मयोग।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

श्रीकृष्ण भगवान्।

योग-शास्त्र यह शिक्षा देता है कि मानव पुरुषार्थ का एक ही उद्देश्य है, एक ही अभीष्ट है, पर तो भी उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भिन्न मार्ग हैं, जिनमें से प्रत्येक मार्ग भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों के अनुकूल है। प्रवृत्ति वस्तुतः आकस्मिक उपाधि और इत्तिफ़ाक़ का परिणाम नहीं है, परंतु अपने विकास-पथ में जीव की उन्नति विशेष का परिणाम है, और वह इस बात का द्योतन करती है कि जीव ने अपने विकास में विचार (और तदनुकूल कर्म) के इस पथ का अनुसरण किया है। विकास की प्रत्येक कक्षा में प्रवृत्ति एक वास्तविक वस्तु है और व्यक्ति के लिये ऐसा पथ निर्धारित कर देती है जिसमें उसे न्यूनातिन्यून बाधाओं को झेलना पड़े। इसीलिये योगियों को यह शिक्षा हुआ करती है कि जिस मनुष्य की प्रवृत्ति और रुचि की आवश्यकताओं के अनुकूल—

अर्थात् कार्मानुसार—जो पथ हो, उसीका अनुसरण करना उसके लिये अधिक हितकर है। योगी लोग सिद्धि के पथ को उन तीन अंतर्गत मार्गों में विभक्त करते हैं, जिनकी गति उसी प्रधान पथ की ओर है। वे इन तीनों मार्गों को (१) राजयोग, (२) कर्मयोग, (३) ज्ञानयोग कहते हैं। योग के इन रूपों में से प्रत्येक मार्ग उस महापथ तक पहुँचता है और प्रत्येक मार्ग अपनी अपनी रुचि के अनुसार अनुसरण करने के योग्य है—परन्तु सभी एक ही निर्दिष्ट स्थान को जा रहे हैं।

राजयोग वह मार्ग है जिसका अनुसरण वे लोग करते हैं, जिनकी प्रवृत्ति मनुष्य की गुप्त शक्तियों के विकसित करने की ओर है—अर्थात् जो आकांक्षा द्वारा मानसिक शक्तियों पर अधिकार रखना चाहते हैं अथवा नीच वृत्तियों पर प्रभुता प्राप्त करना चाहते हैं, वा मन की इस अभिप्राय से उन्नति करना चाहते हैं कि जीव के विकास में सहायता मिले। कर्म-योग कार्यों का योग है, क्रियाओं का पथ है। ज्ञानयोग ज्ञान का योग है। योग के ऊपर लिखे तीन रूपों के अतिरिक्त एक रूप वह है जिसे भक्तियोग कहते हैं; यह भक्ति का मार्ग है, मजहबी भावनाओं का पथ है। कुछ लेखकों ने इस मार्ग का ऐसा वर्णन किया है मानो यह और पथों से विभिन्न ही एक पथ है; परन्तु हम ऐसा समझते और सिखाते हैं कि यह तीनों मार्गों में प्रत्येक का प्रासंगिक है, क्योंकि हम किसी ऐसे योग-शिष्य की भावना ही नहीं कर सकते जो अपने कर्म को परम पुरुष की भक्ति से पृथक् रख सके। हम नहीं समझ सकते कि कैसे मनुष्य अनेक योग-मार्गों में से किसी का

अनुसरण करेगा और सर्व जीवन के महद्केन्द्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति से हीन रहेगा। इन पाठों में भक्तियोग का पृथक् वर्णन करेंगे, परन्तु हमारी यह इच्छा है कि सब लोग समझे रहें कि हम इसे एक पृथक वस्तु नहीं समझते, वरन् यह समझते हैं कि कोई किसी भी योग-मार्ग का साधक क्यों न हो, उसे अपने अभीष्ट योग के साथ भक्तियोग मिलाना ही पड़ेगा।

इस पाठ में हम इस विषय की उस शाखा का वर्णन करेंगे जो कर्मयोग अर्थात् कर्मों या क्रियाओं का योग कहा जाता है। परन्तु हमें इस बात का समझा देना बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि यद्यपि शिष्य की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों के अनुसार यह मार्ग अधिक चित्ताकर्षक प्रतीत हो, पर तो भी वह योग की अन्य शाखाओं अर्थात् ज्ञानयोग और राजयोग इत्यादि में भी तीव्र मनोयोग लगा सकता है, और अन्य योगों के साधक लोग इस कर्मयोग को हीन न समझ लें, क्योंकि यह ऐसा विषय है जो उनके नित्य जीवन से सम्बन्ध रखता है, सो भी वर्त्तमान काल में जब कि सभी मनुष्य कर्म के जीवन से ही जी रहे हैं, साधक को अपने अभीष्ट योगपथ के साथ इस कर्मयोग के भी तत्त्वों का अनुसरण करना होगा।

यह पाठ कर्म-योग के वर्णन में होगा। अगले पाठ में ज्ञान-योग का वर्णन किया जायगा। ज्ञान-योग के पश्चात् भक्ति-योग का वर्णन किया जायगा। (राजयोग का वर्णन इस पुस्तक में न होगा क्योंकि उस विषय में पृथक् ही एक पुस्तक लिखी गई है।)

कर्मयोग पर विचार करने के पूर्व यह अच्छा होगा कि "योग क्या वस्तु है, इस विषय पर एक साधारण दृष्टि डाल ली जाय। योग की शिक्षा और इसके साधनों का उद्देश्य और परिणाम क्या है, इन सब का अभिप्राय क्या है, इन पुरुषार्थों के द्वारा मनुष्य कौन सी वस्तु प्राप्त किया चाहता है, जीवन, वृद्धि, उन्नति और विकास का अर्थ क्या है, विचारशील मनुष्य इन्हीं प्रश्नों को सर्वदा सोचा करते हैं, पर बहुत ही कम मनुष्य इनका थोड़ा सा भी उत्तर दे सकते हैं।

योगशास्त्र यह सिखलाता है कि मानव-पुरुषार्थ और जीवन का परिणाम यह है कि जीव को तबतक विकसने दिया जाय जबतक वह आत्मा से एक न हो जाय। चूंकि आत्मा ही मनुष्य में परमेश्वरीय अंश है इसलिये इस एकता का अन्तिम परिणाम यह होगा कि जिसे परमेश्वर के साथ एकता कहते हैं, उस एकता की प्राप्ति होगी—अर्थात् व्यष्टि जीव सर्व जीवन के केन्द्र के साथ सचेतन सम्पर्क और एकता को प्राप्त हो जावेगा।

बहुत से लोग ऐसा ख्याल और उपदेश करते हैं कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुख है, और यह बात सत्य भी है यदि सुख से अभिप्राय जीवन के वास्तविक सुख का हो जो एक ही सच्चा सुख है। परन्तु यदि सुख से अभिप्राय उस सापेक्ष और क्षणिक सुख से हो जिसे लोग साधारणतः सुख कहा करते हैं, तो उन्हें तुरंत जान पड़ेगा कि वे मृगतृष्णा में पड़े हैं और ज्यों २ वे इन सापेक्ष सुखों की ओर कदम बढ़ावेंगे त्यों २ वे और भी दूर हटते जावेंगे। सच्चा सुख सापेक्ष

वस्तुओं में नहीं मिल सकता; क्योंकि सापेक्ष वस्तुयें देखने में तो बहुत मनोहर दीख पड़ती हैं, परन्तु ज्योंही हम उन्हें धारण किया चाहते हैं त्योंही वे मृतकसागर के फल की भांति राख हो जाती हैं। हम इन चीजों की प्राप्ति के उद्योग में अन्यल्प सुख का अनुभव पा सकते हैं, परन्तु ज्योंही हम इस फल को तोड़ते हैं त्योंही यह मुरझा जाता है। सुख की खोज में हम ऊंचे से ऊंचे फल को भी तोड़ें तो भी परिणाम वही होता है। सापेक्ष वस्तुयें सापेक्ष ही रहेंगी और परिणाम यह होगा कि वे मुरझा जावेंगी। वे देश और काल की वस्तुयें हैं, वे अपना उद्देश्य तो सिद्ध कर लेती हैं पर अपने समय से आगे नहीं ठहर सकतीं। वे मर्त्य हैं और अन्य मर्त्यों की भांति अवश्य मरेंगी। केवल परम वस्तु ही परिवर्त्तनहीन और अमर है।

यह सब उद्योग, पीड़ा, जीवन और पुरुषार्थ वस्तुत: इसलिये है कि जीव का विकास हो और वह अपने असली आप का अनुभव कर सके। यही इन सब का अभिप्राय है। इसीलिये हम पहले एक बात के लिये यत्न करते हैं, फिर दूसरी के लिये। हम यह सोचते हैं कि हमें इनकी आवश्यकता है और फिर हमें यह ज्ञात होता है कि हमें इनकी आवश्यकता नहीं है। हमें ऐसी भूख रहती है जो मिटती ही नहीं—ऐसी प्यास जो बुझती ही नहीं, और हम जीवन के सब अनुभवों को जाँचते हैं। कभी २ तो बड़े चाव और तीव्रता से, और कभी २ लापरवाही से और धीरे धीरे, पर अन्त में सब को छायावत् और असत् पाते हैं। परन्तु वह भूख और प्यास अब

भी बनी रहती है और आगे यत्न करने के लिये दुःखद प्रेरणा करती है। यह बात सर्वदा ऐसी ही बनी रहेगी जबतक हम यह न जान जायँगे कि हमारी अभीष्ट वस्तु हम से बाहर नहीं, किन्तु हमारे भीतर ही है, और जब हम इस पाठ को सीख लेते हैं, (चाहे कितना ही धुँधला क्यों न सीखें) तब हम बुद्धिपूर्वक उस अभीष्ट को खोजने लगते हैं और दूसरे ही जीव हो जाते हैं। यही जीवन-विकास का मतलब है।

मानव-जाति का अधिकांश भाग इसी सुख के पीछे अन्धे और अचेतन रूप से पड़ा है। ये यहां और वहां दौड़ते हैं, कभी एक बात की परीक्षा करते हैं फिर दूसरी की, यह आशा करते हुए कि वह अस्पृश्य वस्तु मिल जावेगी जिससे वे प्रवृत्तितः शान्ति और सुख की आशा करते हैं। और यद्यपि बार २ निराशा प्राप्त होती है, तो भी वे अक्षुण्ण उत्साह से खोज को जारी रखते हैं, क्योंकि वे उस विकसते हुए जीवात्मा से प्रेरित होते रहते हैं जो अपनी आवश्यक बात की पुकार मचा रहा है। ज्यों २ जीव अनुभव पर अनुभव द्वारा जगता और विकसता जाता है, त्यों २ वह क्रमशः सबुद्धि और सचेतन विभावना उस वस्तु की सत्प्रकृति को प्राप्त करता है जिसकी उसे खोज है, और तत्पश्चात् वह केवल उन्हीं मार्गों का अनुसरण करता है जो अभीष्ट वस्तु की ओर जाते हैं और अब इतने समय के बाद जिनका पता लगा है।

बहुत से पश्चिमीय जिज्ञासु इस बात की शिकायत करते हैं कि पूर्वीय दर्शन पश्चिमीय शिष्यों की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हैं, क्योंकि भूमंडल के दोनों भागों की अवस्थायें भिन्न

भिन्न हैं। यह आपत्ति यदि सत्य सिद्ध हो जाती तो यह बात प्रमाणित करती कि पूर्वीय शिक्षा पूर्ण और सत्य नहीं है, क्योंकि जो शिक्षा पूर्ण और सत्य होगी वह अवश्य मनुष्यों को सब अवस्थाओं के अनुकूल घटेगी, चाहे जितना भेद जाति, आबोहवा, देश, पेशा और अरोसपरोस तथा प्रतिवेश में क्यों न हो। यदि शिक्षा प्रत्येक जीव की आवश्यकताओं के अनुकूल न हो तो वह पूर्ण नहीं कही जा सकती और अवश्य त्याज्य है। मानव जाति का हीनातिहीन, तुच्छातितुच्छ मनुष्य भी विचार में लाया जायगा, नहीं तो शिक्षा सत्य उपाधि से रहित हो जावेगी। क्योंकि तुच्छातितुच्छ मनुष्य से लेकर (संसार की दृष्टि में) बड़े से बड़े मनुष्य सभी मानव-जाति के अन्तर्गत हैं और नियम के अधिकार में हैं और त्यागे नहीं जा सकते।

इन पश्चिमीय आपत्तिकारी शिष्यों को यह कठिनाई है कि इन लोगों ने पूर्वीय शिक्षाओं को केवल इन्हीं लोगों के अनुकूल समझ रक्खा है जो अपने जीवन को सांसारिक व्यग्र कार्यों से पृथक् ध्यान और स्वप्न-दर्शन में लगा सकें। परन्तु यह बड़ी गलती है। यह बात सत्य है कि कुछ पूर्वीय साधक इस एकान्त जीवन को पसन्द करते हैं और इससे बड़े बड़े फल प्राप्त करते हैं—यही उनका कर्म है—यही उनके पूर्वजन्मों की अर्जित कामनाओं और प्रवृत्तियों का परिणाम है। परन्तु कोई भी सच्चा योगी यह न समझेगा कि यही एक मार्ग है, और अन्य मार्ग ही नहीं है, अथवा यह एक ही मार्ग सब शिष्यों के लिये सर्वोत्तम है। परन्तु इसके विपरीत सच्चा योगी समझता है कि पूर्व में भी कर्मवीरता का जीवन उन लोगों के लिये

अत्यन्त समुचित और धर्म है जो कर्म में झोंक दिये गये हैं, और उनके लिये कर्तव्यों की अवहेलना करना या उनसे भागना महद्धर्म का उल्लंघन करना है। ऐसी स्थिति होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिमीय जातियों का उत्कट कर्म (जो सब सुदृढ़ नियम और विकास की स्पष्ट तथा खूब समझी-बूझी कक्षा के अनुकूल है) सहस्रों उन शिष्यों के लिये एकान्तवास को असम्भव बना देता है, जो अवश्य उस मार्ग का अनुसरण करेंगे जो उनके कर्म के अनुकूल होगा। और वे योगी लोग ऐसे शिष्यों को प्रसन्नता से अपने शास्त्र की उस शाखा के सौन्दर्य और लाभ का उपदेश देते हैं जो कर्मयोग कहा जाता है और जिसका वर्णन इस पाठ में किया जायगा।

'कर्म' शब्द संस्कृत 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ 'करना' है। बहुधा 'कर्म' शब्द उस बात के द्योतन करने में प्रयुक्त होता है जिसे कृतियों का प्रतिफल कह सकते हैं। आध्यात्मिक संसार में भी कारण और कार्य होते हैं। प्रत्येक कार्य किसी प्रतिफल का उसी प्रकार कारण होता है जैसे प्रत्येक विचार किसी कार्य का कारण हुआ करता है। कृतियों का प्रतिफल वस्तुतः विचारों का प्रतिफल है क्योंकि विचारों ही से कार्य उत्पन्न हुआ करते हैं।

हम लोग आज इस वर्त्तमान अवस्था में ऐसे केवल इसलिये हैं कि हमने अपने पूर्व जीवनों में कुछ बातों को किया अथवा नहीं किया है। हमको कुछ कामनायें उत्पन्न हुई और उन्हीं कामनाओं के अनुसार हमने कार्य किया और परिणाम आज प्रगट है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि हम

दण्डित किये जा रहे हैं क्योंकि हमने भूतकाल में कुछ वैसे कर्म किये थे। दण्ड उस महान् नियम का कोई अंग नहीं है। हमने कुछ कार्यों के करने की इच्छा की, और यथाशक्ति उन कार्यों को कर भी डाला, और उनका अनिवार्य परिणाम उनके पीछे अब आया। हमने पहले अपनी अँगुलियों को आग में डाल दिया और अब उनकी जलन पीड़ा को भोग रहे हैं, बस यही मामला है। जिन कार्यों को हमने भूतकालों में किया, यह आवश्यक नहीं है कि वे सब बुरी बातें थीं। सम्भव है कि हमारी लगन किसी कर्म से अनुचित रीति पर लग गई हो और उसी लगन और कामना का प्रतिफल हम पर आ पड़ा हो, जो कदाचित् थोड़ा बहुत असुखकर और कष्टदायक प्रतीत होता हो, पर वस्तुतः वह भला ही है, क्योंकि वह हमें यह सिखा रहा है कि जिस बात की हमने कामना की थी और जिसपर लगन लगाई थी वह बात हमें न करनी चाहिये थी और अब फिर हम वैसी ही भूल न करेंगे। इसके अतिरिक्त एक बार जब हमारी आँखें इस प्रकार खुल जावेंगी कि हम विपत्ति की प्रकृति को समझ जावेंगे तो जलन की असह्य पीड़ा घट जावेगी और जख़म मुरझा जावेगा।

इसी आध्यात्मिक कारण कार्य को कर्म कहते हैं। जब कोई मनुष्य कहता है कि "हमारा कर्म", तब उसका अभिप्राय उस प्रतिफल से होता है जो उस कारण-कार्य के नियम के अनुसार उसे प्राप्त हुआ है, अथवा जो उस नियम की चरितार्थता से उस पर अवश्य आ पड़नेवाला है। प्रत्येक मनुष्य ने कुछ कर्म किये हैं जिनके प्रतिफल सर्वदा प्रगट हो रहे हैं। इस

ज्ञान के प्राप्त होने से हम भयभीत या व्याकुल हो जायें इसका कोई कारण नहीं है । इस ज्ञान के अनुभव से हम इस योग्य हो जाते हैं कि अपने कर्मों को बहुत ही कम पीड़ा और घबराहट से सह सकें और नये अनिष्ट कर्मों के अर्जन करने में बचे रहें । हमारे कर्म उन कारणों के अनुसार, जिन्हें हमने ही संचालित किया था, सुखकर अथवा असुखकर हो सकते हैं, और वे अब भी सुखकर अथवा असुखकर (उनकी ओर से अपनी मानसिक वृत्ति फेर लेने से) बनाये जा सकते हैं । एक तत्वविचारक दार्शनिक मनुष्य बुरे कर्म को भले में इस प्रकार परिवर्तित कर सकता है कि उसकी बुराई को देखे ही नहीं । वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी अच्छे से अच्छे कर्म में भी दोष पा सकता है ।

पूर्वीय दर्शनों के बहुत से शिष्य लोग इस आध्यात्मिक कारण-कार्य के नियम अर्थात् कर्म को वह दण्ड मानते हैं जो आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा न्याय विचारा गया, नियत किया गया और शासित किया गया है । यह भावना असत्य है । कर्म प्रायः दण्ड की भांति कार्य करता है—अर्थात् प्रायश्चित्त और भयोत्पादन का काम देता है, परन्तु तो भी उसमें प्रतिद्रोह की मात्रा नहीं है, और न उसमें दैवी न्याय का उद्देश्य है । वह केवल कारण-कार्य है । बिना उदाहरण दिये अपने असली अभिप्राय का समझाना कठिन है, और ऐसे विषयों में उदाहरण देना असम्भव सा है । तो भी हम कह सकते हैं कि मान लीजिये कि कोई मनुष्य अधिकार पाने की प्रबल कामना रखता है और उस कामना का स्वार्थी विचारों द्वारा सर्वदा भरण-पोषण किया करता है । अब निश्चय है कि ऐसा

मनुष्य ऐसे कारण-कार्य के जाल में फँस जाय जिससे उसको मानसिक या शारीरिक पीड़ा और दुःख हो। वह देर या सवेर अपनी कामना को चरितार्थ पा सकता है, परन्तु बहुत अधिक सम्भव है कि इस कामना के विशेष रूप से प्रबल हो जाने के कारण उसकी अन्य कामनायें दब गई हों और वे इस प्रबल कामना की पूर्ति हो जाने पर उभड़ कर अपने तोष के लिये पीड़ा पहुँचावें। वह अपने अभीष्ट को अन्य प्रिय वस्तुओं को खो कर पा सकता है। अथवा उसकी कामना इतनी बलवती न होने के कारण जितनी वैसी ही कामनायें अन्य चित्तों में हो सकती हैं, वह चाहे अपने अभीष्ट को न भी पा सके, परन्तु वह उस मानसिक महत चक्र के नीचे कुचल जा सकता है, जिसे स्वयम् उसीने चलाया है और जिसमें वह अनिवार्य रूप से खिंच गया है। जब मनुष्य अपने किसी कर्म के प्रतिफल की बलवती कामना रखता है, तब बहुत ही अधिक सम्भव है कि अन्यों के साथ वह ऐसा मानसिक चक्र चला दे, जो या तो उसकी दशा विशेष, उद्देश्य की दृढ़ता, या उसकी मानसिक शक्तियों के अनुसार उसे लाभ ही पहुँचावे या उसे कुचल कर चकनाचूर ही कर डाले। मनुष्य प्रायः अपने ही बम्ब से आप उड़ जाते हैं, या अपनी ही लगायी हुई आग से आप जल जाते हैं। वे बातों में आप मिलते हैं और उसी चाल मे दुःख भोगते हैं।

वे लोग भी जो अपने अभीष्ट को (चाहे वर्त्तमान या भविष्य जीवन में) प्राप्त कर लेते हैं, बहुत निराश हो सकते हैं और जीवन को दुःखमय पा सकते हैं। स्वतंत्र शासक भी

अनगिनत मानसिक पीड़ाओं को भोग सकता है और करोड़-पति भी अपने द्वार के भिखमंगे की अपेक्षा भी अधिक दुखी हो सकता है। परन्तु यह केवल इतना ही नहीं है, किन्तु जो लोग दौड़ में शरीक हुए हैं और जीतनेवालों के संग नहीं जुट सकते हैं, वे इधर उधर गिर पड़ते हैं, थक खा जाते हैं, नीचे पड़ कर कुचल जाते हैं या अन्य प्रकार से चोट खा जाते हैं। केवल इसीलिये कि वे दौड़ में शरीक हुए। वे केवल निराशा ही से दुःख नहीं उठाते, किन्तु उसके अतिरिक्त चोट भी खा जाते हैं। हम एक ऐसे मनुष्य का स्मरण करते हैं जो कुछ मनुष्यों पर घृणा करने लगा, बहुत ही कड़ी घृणा करने लगा, यथासाध्य उनको सब प्रकार की हानि पहुँचाने की चेष्टा में लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपने को घृणा के मानसिक चक्र में फँसा दिया, जो संसार में पूरी रीति से चल रहा है, और थोड़े ही दिनों में उसने सैकड़ों अन्य मनुष्यों की घृणा और शत्रुता को अपने ऊपर बुला लिया, और मानसिक तथा आर्थिक चोटें खाने लगा और बड़ी ही पीड़ा और मानसिक विपत्ति में पड़ गया। जिन लोगों से वह घृणा करता था उनमें से केवल एक ही को वह हानि पहुँचा सका, और वह मनुष्य भी विचार की घृणाभूमि ही का रहने वाला था जो स्वभाव ही से अपनी ही प्रकृति के अनुकूल विचारों और क्रियाओं को आकर्षित करता था। परन्तु यह शिक्षा प्रथम मनुष्य के लिये बड़ी ही लाभदायक हुई, क्योंकि उसकी आँखें घृणा की मूर्खता और उसके परिणाम पर खुल गयीं, और तब से उसने अपने को फिर जाल में न फँसने दिया। जो

लोग घृणा का खेल खेलते हैं, वे जब चोट खा जायें. तो फिर उन्हें शिकायत न करनी चाहिये। जो लोग लोभ के जाल में फँसे हैं, वे यदि अपनी ही भूमिका के अधिक चालाक लोभी द्वारा छले जायँ तो उन्हें शिकायत न करनी चाहिये। जो लोग अपने जीवन को किसी जड़ वस्तु में चिपका दें, तो जिस मनुष्य या वस्तु में वे अपने जीवन को लगाये हैं उसमे दुःख पावें तो क्या आश्चर्य है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि—"जब हम क्रिया के संसार में हैं तो इन बातों से कैसे बच सकते हैं? हम कर्मों के फल से कैसे छुटकारा पा सकते हैं?" योगशास्त्र उत्तर देता है कि—"जीवन के महत् खेल में भाग लेने से, उसकी गतियों में हो कर चलने से, यथासाध्य सर्वोत्तम कार्य करने से, परन्तु सर्वदा इस बात को स्मरण रखते हुए कि कभी आप कर्मों के फल में लगन न लगावें। कार्य केवल कार्य के निमित्त है। संसार में अपने कर्त्तव्य को प्रसन्नता, आनन्द, आकांक्षा और हृदय से पालन कीजिये, परन्तु अनुभव करते रहिये कि अन्त में इन कार्यों का फल कुछ नहीं है, और इस बात पर हँसते रहिये कि क्या ये सापेक्ष बातें आप को सच्ची मूल्यवान हो सकती हैं? इसी उत्तर के विचार में हम इस पाठ के शेष भाग को लगावेंगे। हमें विश्वास है कि हम आप को दिखा सकेंगे कि यह उपदेश प्रथम दृष्टि में चाहे कितना ही अशक्य और कठिन क्यों न प्रतीत हो, पर उद्योगी से उद्योगी कामकाजी मनुष्य के लिये केवल शक्य ही नहीं है किन्तु जीवन का एक ही सत्प्रकार है। वर्त्तमान काल के उद्योगी-संसार के लिये

यह पूर्वीय ज्ञान विशेष रूप से अनुकूल है, यद्यपि ऊपर से देखने में आधुनिक प्रगति के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

इस स्थान पर हम अपने शिष्यों को इस बात का स्मरण दिलाते हैं कि मानव जाति के केवल थोड़े से मनुष्य इन उपदेशों को ग्रहण करेंगे। अधिकांश मनुष्य वर्त्तमान अवस्था में अपने भाई को नीचे गिरा कर और उसी के शव पर खड़े होने में, वर्त्तमान औद्योगिक और व्यापारिक जीवन के नरभक्षण और पश्चाचार में इतने फूले हुये हैं कि दूसरे मार्ग में चल ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में वे खाते और खाये जाते, मारते और मारे जाते, कुचलते और कुचले जाते, घृणा करते और घृणा किये जाते रहेंगे। जो लोग इन बातों का अन्यों के साथ बर्ताव करते हैं और उन्हीं में आनन्द मनाते हैं, वे अपने को कारण और कार्य की क्रिया में इतना झोंक देते हैं कि वे इस चक्रयन्त्र में फँस जाते हैं और जब दूसरों को नोच डालने की आशा में रहते हैं त्योंही अपने आप पिसकर चकनाचूर हो जाते हैं।

जो थोड़े से मनुष्य इन शिक्षाओं के अधिकारी हैं, वे हमारे अर्थ को समझेंगे और इस बात में समर्थ हो सकेंगे कि किनारे खड़े होकर अपने को इस घोर युद्ध में लड़ते और झगड़ते देखेंगे और साथ ही उनका जीव इस संग्राम से परे रहेगा। वे उसी जीवन को जीयेंगे और उन्हीं बातों को करेंगे जिसे उनका अविकसित भाई जी रहा है या कर रहा है— अर्थात् प्रगट रूप में—परन्तु वे सत्य बात को जानते रहेंगे और अपने को चक्रयन्त्र में फँसने से पृथक् रक्खेंगे और जाल में न फँसने देवेंगे।

हम से अकसर यह प्रश्न किया जाता है कि "यदि प्रत्येक मनुष्य आप की शिक्षाओं का अनुसरण करे तो संसार की कैसी गति हो जायगी ?" हम उत्तर दे सकते थे कि आधुनिक जीवन का सारा आडम्बर खण्ड २ होकर गिर जायगा और उसके स्थान पर कोई बेहद बेहतर तरीक़ा जारी हो जावेगा। परन्तु इस उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि इस बात की अभी सम्भावना ही नहीं है कि अधिकांश मनुष्य इन शिक्षाओं को निकट भविष्य में स्वीकार करें। दिन पर दिन अधिक २ मनुष्य इन्हें स्वीकार करते जाते हैं, परन्तु तो भी उनकी संख्या जो इन्हें स्वीकार करते हैं और इनके अनुसार जीवन जीते हैं, उन मनुष्यों की भीड़ जो जीते और कार्य करते हैं, मुट्ठी भर होगी। प्रतिद्वन्द्व और परीक्षा के—यत्न और तजरुबे के—बहुत वर्ष बीतेंगे तब कभी सारी मानव जाति उन्नति के केवल प्रथम चरण के योग्य हो सकेगी। हम इसको खेद के साथ नहीं कहते, वरन् स्वभावतः कह रहे हैं, क्योंकि जानते हैं कि यह सब प्रतिद्वंद और पीड़ा जाति के विकास के लिये आवश्यक है। (जब हम इन शिक्षाओं का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय उन्हीं बातों से नहीं है जो विशेष करके हमारे ही द्वारा आप लोगों के सम्मुख उपस्थित की जाती हैं, परन्तु इन शिक्षाओं के उन अनेक रूपों से अभिप्राय है जो सैकड़ों आचार्यों द्वारा वर्तमान काल में दी जा रही हैं।)

कर्मयोगी के सीखने योग्य प्रथम बातों में एक यह बात है कि वह सारे यन्त्र या जीवन पद्धति में एक व्यष्टि है। उसका एक पद है और कार्य में उसे भाग लेना पड़ेगा। इसकी कुछ

चिन्ता नहीं कि उसकी पदवी कितनी महत्वशील है अथवा कैसे दायित्व के पद को उसे पूरा करना पड़ता है। वह पद्धति में केवल एक व्यष्टि मात्र है, और उस पद्धति के अनुसार बर्ते जाने में उसे प्रसन्न रहना चाहिये। और कितना ही तुच्छ और महत्वहीन वह क्यों न प्रतीत हो, तो भी वह एक व्यष्टि है जिसका कुछ अभिप्राय और कार्य है। महत्वहीन कोई बात नहीं है, और प्रधान से प्रधान व्यष्टि भी उस पद्धति के नियम के अधीन है। हम सबको अपना २ कार्य करना चाहिये—अच्छी तरह करना चाहिये। केवल इसी लिये नहीं कि हम अपनी ही उन्नति या अपना ही विकास कर रहे हैं, किन्तु इस लिये भी कि हम दिव्यमानस द्वारा जीवन के इस महान् खेल में शतरंज की गोटियाँ भारी मोहरे की भांति बर्ते जा रहे हैं। इस प्रकार बर्ते जाने में हमें प्रसन्न रहना चाहिये और इस प्रसन्न रहने से हमें रगड़ और पीड़ा कम अखरती जान पड़ेगी। इस विषय को इच्छानुसार अत्यन्त स्पष्टरूप से वर्णन करना बहुत कठिन बात है, तो भी हम विश्वास करते हैं कि ज्यों २ हम आगे बढ़ते जायँगे त्यों २ हमारा अर्थ साफ होता जायगा।

हमारे जीवन केवल हमारी व्यष्टि ही की उन्नति के लिये नहीं हैं, परन्तु हमारी इसलिये भी आवश्यकता है कि हम दूसरी व्यष्टियों पर खेलें और दूसरी व्यष्टियों द्वारा खेले जायें जिससे सारी जाति को ऊपर की गति में सहायता मिले। कार्य का कोई अंग अपनी खास उन्नति के लिये हमें निष्प्रयोजन प्रतीत हो सकता है, परन्तु कार्य का वही विशेष अंग उस महती पद्धति के किसी भाग में निश्चय अत्यन्त आवश्यक है।

इसलिये हमें अपने पूरे कार्य को प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिये। प्रत्येक गति और स्थिति का कुछ अभिप्राय है, जैसे शतरंज के खेल में कोई चाल जाहिरा व्यर्थ और निष्प्रयोजन प्रतीत हो, परन्तु खेल में आगे चल कर देखने में आवेगा कि वही चाल खेल की सारी तदवीर में प्रधान चाल थी। इसलिये सच्चा कर्मयोगी विना किसी शिकायत या गिला के अपने को आत्मा द्वारा वर्ते जाने देता है क्योंकि वह जानता रहता है कि उसका सब प्रकार भला ही होगा और यह भी जानता रहता है कि इस वर्ताव की उस महत् खेल में, जिसमें सभी मनुष्य शरीक हैं, किसी खास बात या परिवर्तन के लिये आवश्यकता है। जो लोग खेल की भीतरी क्रिया के रहस्यों को नहीं समझते, वे अकसर विगड़ खड़े होते हैं और ऐसी जबर्दस्त चालों (वर्तावों) में रोक खड़ी करते हैं, और इससे रगड़ में भारी पीड़ा और दुःख पाजाते हैं—रोक करने से चाल अर्थात् वर्ताव में जोर पड़ता है—और जगा हुआ जीव, बातों को यथार्थ देखता हुआ मुस्कुराता है और अपने को वर्ते जाने देता है, जिससे पीड़ा से बच जाता है, और परिवर्तन से प्रायः लाभ प्राप्त करता है। यद्यपि ऐसे लाभ की कामना वह अपने कर्म के प्रतिफल स्वरूप नहीं करता। वह केवल अपने साथ वर्ताव में अपने स्वामी के हाथ को पहचान जाता है और सरलता पूर्वक उस हाथ की प्रेरणा के अनुसार एक कोठे से दूसरे कोठे में अपने को सञ्चालित होने देता है जिससे खेल में नई स्थिति आजाती है।

परा विद्या की यह बात केवल स्वप्नदर्शन मात्र नहीं है।

आपलोगों में से बहुत से लोग आश्चर्य करेंगे जब सुनेंगे कि मानव उद्योग की प्रत्येक शाखा के नेताओं में कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने पीछे लगे हुए इस बल को पहचानते हैं और उसका विश्वास करना सीख गये हैं। हम आप को एक विख्यात् मनुष्य का प्रमाण देते हैं—ऐसा मनुष्य जिसका नाम सारे संसार में नेता और "अवस्थाओं का प्रभु" करके विदित है। उसको पूर्वीय शिक्षाओं का ज्ञान नहीं है (अथवा नीचे लिखे हुये कथन के समय नहीं था) परन्तु कई वर्ष हुये कि उसने अपने मित्र से नीचे लिखी बातें कहीं और उस मित्र ने मुझसे वर्णन किया। उद्योग के इस सिरताज ने कहा कि "लोग मुझे बहुत उद्योगी पुरुष होने का महत्व देते हैं, कि मैं बहुत पहले ही से आश्चर्य जनक संयोग और अनुसंधियों के लिये तदबीरें सोचा करता हूँ। वे बिलकुल ग़लती में हैं। असल में मैं पहले से कुछ नहीं सोचता हूँ, बहुधा एक समय में एक कदम से आगे मैं नहीं देखता, यद्यपि साधारण ढाँचा सोचा-सोचाया हुआ पहले ही से मेरे मन में संचित प्रतीत होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं शतरंज के एक बड़े खेल में गोटी हूँ और मुझे कोई महती शक्ति संचालित कर रही है जिससे वस्तुओं और मनुष्यों में बड़े २ परिवर्तन घटित हों। यद्यपि मैं नहीं जानता कि वे परिवर्तन क्या हैं। मुझे यह नहीं अनुभव होता कि मैं किसी गुणविशेष से विधाता द्वारा अनुगृहीत किया गया हूँ, क्योंकि, बिना व्यर्थ के संकोच के, मैं सत्यता पूर्वक कह सकता हूँ कि मुझे प्रतीत होता है कि मैं किसी विशेष पुरस्कार का अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि मैं अन्य

मनुष्यों की अपेक्षा बढ़ कर या विज्ञतर नहीं हूँ। कभी २ ऐसा समझने के लिये मैं विवश हो जाता हूँ कि जो क्रियायें मैं करता हूँ वे अन्य के लिये, सम्भवतः मानव जाति के लिये हैं, यद्यपि मेरे बहुत से कार्य, अथवा यों कहिये कि कार्यों के परिणाम सर्वसाधारण की हानि की ओर जाते प्रतीत होते हैं। मैं अपने धन से कोई विशेष सुख नहीं पाता हूँ यद्यपि उसके अर्जन करने में मैं उस समय अपना बड़ा मन लगाव पाता हूँ, और जब कोई कार्य समाप्त हो जाता है तो अपने को उसे पुराने खिलौने की भाँति फेंक देते हुए पाता हूँ। मैं नहीं जानता कि इस सब का क्या मतलब है। परन्तु मुझे निश्चय है कि इसका कुछ अर्थ अवश्य है। किसी दिन कदाचित् मैं अपनी सर्व सम्पत्ति से विहीन हो जाऊँ, परन्तु मुझे जान पड़ता है कि वैसी घटना में भी मुझे ऐसी कोई वस्तु मिल जावेगी जो मेरी प्रगट हानि का पलटा देगी। मैंने अपने जीवन के पूर्व भाग में ही इस बात पर ध्यान दिया और शीघ्र ही सीख गया कि यह चाहे जो कुछ हो पर इससे सञ्चालित और प्रेरित होना चाहिये। जब मैंने इसका रोध किया तब मैंने किसी न किसी प्रकार अपने को आहत पाया और जब मैंने बिना रोध के अपने को सञ्चालित होने दिया, तब मैं सफल रहा। कभी २ मैं हँसता हूँ कि लोग मेरी करतूतों को कैसा करके मानते हैं, जबकि वस्तुतः मैं किसी बड़े खेल में केवल गोटी और मोहरे की भाँति रहा, जिसके चलाने वाले को मैं नहीं जानता और जिसके विशेष प्रीति-भाजन होने का मैं कोई कारण नहीं देखता"।

यह मनुष्य अज्ञात रीति से कर्मयोग के मूलतत्त्वों में से एक को प्राप्त हो गया—वह तत्त्व जिसे कर्म का रहस्य कहते हैं। यह फलों की परवाह ही नहीं करता—अपने कर्म का फल नहीं चाहता—यद्यपि यह खेल में, जब तक खेल जारी है, बहुत मन लगाव पाता है। वह अपने कर्मों के फल से बिना लगन के है, यद्यपि दूर से देखनेवालों को यह बात नहीं दीख पड़ती। वह अपने को किसी बड़ी कल (यन्त्र) में एक पुर्जा के समान समझता है और अपना कर्त्तव्यपालन करने में प्रसन्न है। इसके कार्यों में से अनेक कार्य जिनके करनेवाले वस्तुतः अनेक वे मनुष्य हैं, (जिनके स्वार्थ इस मनुष्य पर लड़ या मिल जाते हैं) बहुतों पर कठिन और कठोर प्रभाव डालते हैं, परन्तु देखनेवाले देखते हैं कि वह और वैसे ही अन्य मनुष्य अज्ञात रूप से उन आर्थिक परिवर्त्तनों के लिये मार्ग दुरुस्त कर रहे हैं जो मानव जाति पर उदय होने वाले हैं और जो मनुष्य जाति के भ्रातृ-भाव की चेतना के आधार पर अवलम्बित हैं। हम इस मनुष्य को कर्मयोगी का उदाहरण बना कर नहीं दिखलाते—यह कर्मयोगी का उदाहरण है ही नहीं—क्योंकि यह ऐसे जीवन को बिना समझे हुए अज्ञात रूप से जी रहा है और कर्मयोगी इन सब के अर्थ को पूरी रीति से जानता है और इसके पीछे लगे कारणों को भी समझता है। हमने इस मामले का उल्लेख केवल इस बात के दिखलाने के लिये किया है कि ऐसी बातें प्रायः घटित हुआ करती हैं। जीवन के सब मार्गों में बहुत से मनुष्य कर्मयोग के किसी न किसी तत्त्व का अभ्यास थोड़ा बहुत अज्ञात रूप

से कर रहे हैं। वे इस जीवन को लीला रूप से धारण करना कहते हैं, जिससे उनका यह अर्थ है कि वे अपने को अत्यन्त संलग्न नहीं हो जाने देते अथवा अपने परिश्रम के फलों में, चाहे वे प्राप्त हों अथवा आशा किये जाते हों, अत्यन्त लिप्त नहीं हो जाते। वे कर्म करते हैं, थोड़ा बहुत कर्म ही के प्रेम से—कर्म केवल कर्म ही के लिये—वे कर्म करते रहना पसन्द करते हैं और जीवन के खेल में आनन्द मानते हैं—अर्थात् खेल ही में आनन्द मानते हैं न कि उसके किसी प्रतिफल में। वे खेल को खेलते हैं—अच्छी तरह खेलते हैं—मजे के साथ खेलते हैं—उस खेल की क्रियाओं और बारीकियों में मन लगाते हैं। परन्तु उन तुच्छ इनामों के विषय में जो खेल में जीतनेवालों को मिलनेवाले हैं वे बिलकुल निस्पृह रहते हैं। जो उन इनामों की बड़ी महिमा समझते हैं उन्हें भोगें, सच्चा खेलाड़ी तो ऐसे लड़कपन को पार कर गया है।

शोहरत, पदवी और आतङ्क जो संसार की सस्ती कृपायें हैं, इनसे दृढ़ मनुष्य विरत रहते हैं। इन्हें वे पानी के बबूलों की भांति देखते हैं। ऐसी बातों को वे लड़कों के लिये छोड़ देते हैं। वे बहुमूल्य तगमों के फीतों को अपने कोटों में चिपकाने देते हैं पर अन्त में वे इस पर हँसते हैं! दूसरे खेलाड़ी लोग, सम्भव है कि इनके इस अन्तर्भाव को न समझें और प्रगट में तो जगा हुआ खेलाड़ी भी अन्य खेलाड़ियों ही की भांति प्रतीत होता है, पर वह जानता है और अन्य अनजान हैं।

कर्मरहस्य—"असंसृति" ही कर्मयोग का मूल मन्त्र है।

असंसृति अर्थात् लगन के न लगने का यह अर्थ नहीं है कि शिष्य सब प्रकार के भोगों को रोके। इसके विपरीत इससे यह शिक्षा मिलती है कि यदि इस मूल मन्त्र का अच्छी तरह अनुसरण किया जायगा तो इससे प्रत्येक बात में आनन्द मिलेगा। उसके सुख को छीन लेने के स्थान पर यह मन्त्र उसे सहस्रगुण और अधिक बढ़ा देगा। फरक इस बात में है कि सकाम मनुष्य के विश्वास में सुख कुछ वस्तुओं या मनुष्यों में वसता है, और निष्काम मनुष्य समझता है कि सुख अन्तः से प्राप्त होता है बाहरी पदार्थों से नहीं, और इसीलिये वह उन अवस्थाओं को भी सुखदायिनी बना लेता है जो उसे असन्तोष और कदाचित् पीड़ा भी दे सकती थीं। जबतक मनुष्य किसी मनुष्य या वस्तु में लगन लगाये रहता है कि उसका सुख उसी पर अवलम्बित है तबतक वह उस मनुष्य या वस्तु का दास बना रहता है। परन्तु जब वह अपने को फँसाने वाले प्रभावों से मुक्त कर लेता है, तब वह अपना स्वामी आप हो जाता है और अपने भीतर सुख के निश्चित भण्डार को धारण कर लेता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमें दूसरों पर प्रेम ही न करना चाहिये, वरन् इसके विपरीत हमें पूरा प्रेम प्रवाहित करना चाहिये, परन्तु प्रेम स्वार्थी न हो। इस बात का वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

उस मनुष्य को, जो सकाम जीवन जी रहा है, कर्मयोग का तरीका बुरा प्रतीत होगा और सम्भव है कि निष्फल या अधूरा प्रयोग सिद्ध हो। ऐसा समझना उसकी गलती है। किसी दूकान, दफ्तर या कारखाने में कौन मनुष्य सर्वोत्तम

कार्य करेगा—वह मनुष्य जो अपनी मजदूरी ही के लिये काम करता है और सर्वदा घड़ी पर चित्त लगाये है कि कब छुट्टी का समय आवेगा अथवा वह मनुष्य जो अपने उद्यम को अच्छी जीविका के अतिरिक्त मनःप्रसाद की एक ऐसी वस्तु समझता है कि प्रायः कभी कभी भूल जाता है कि मैं वेतन के लिये कार्य कर रहा हूँ और तौभी अच्छी तरह से कार्य में मनोयोग दिये रहता है ? ऐसे बहुत से मनुष्य वर्तमान हैं और वे एक प्रकार से कर्मयोग का साधन कर रहे हैं पर वे इस बात को जानते नहीं। संसार का सर्वोत्तम कार्य उन्हीं मनुष्यों के द्वारा होता है जो अपने कार्य में मनःप्रसाद अनुभव करते हैं और केवल वेतन ही के लिये अपने अंग का संचालन रूप कार्य नहीं करते। वह प्रवृत्ति, जिसके द्वारा गुणी चित्रकार एक उत्तम चित्र बनाता है—लेखक अच्छी किताब लिखता है—सङ्गीताचार्य अच्छा सङ्गीत जोड़ता है, मनुष्य को, किसी कार्य में क्यों न हो, सफलता देगी। यह कर्म ही के लिये कर्म है—कर्मकर्ता के मनःप्रसाद के लिये कर्म है। बड़े बड़े सब कर्म इसी रीति से उत्पन्न होते हैं।

बहुत से लोग योगियों को स्वप्नदर्शी मनुष्य ख्याल किया करते हैं कि ये दुनिया के कर्म के अयोग्य हैं—केवल स्वप्न देखनेवाले हैं—व्यर्थ की कल्पना करनेवाले हैं। परन्तु जो गम्भीर विचार वाले हैं वे अनुभव करते हैं कि अभ्यासी योगी मानव उद्योग की किसी भी शाखा में गणना का मनुष्य होता है। उसकी असंसृति ही उसे ऐसी शक्ति देती है जो सकाम मनुष्य को नहीं प्राप्त हो सकती। योगी भयभीत नहीं होता—

वह हिम्मतवाला है—वह जानता है कि हमारे सुख और हमारी सफलतायें किसी संयोग पर आश्रित नहीं हैं और मैं अवस्थाओं के कठिन से कठिन संघट्ट से भी अक्षत और अखण्ड निकलूँगा। वह समझता है कि मैं दृढ़ चट्टान पर खड़ा हूँ—मेरा सहायक विश्व का सारा बल मेरे पीछे लगा है। यह भावना उसको ऐसा बल और उत्साह देती है जो उस मनुष्य को अज्ञात है और जो किसी कार्य की सफलता के द्यूत में अपने सारे सुख को दाव पर रक्खा हुआ समझता है और यह भी समझता है कि यदि सफलता न हुई तो निराशा तो भाग्य में बदी ही है। असंसृत अर्थात् निष्काम मनुष्य जीवन के प्रवाह को अपने ऊपर और भीतर प्रवाहित होने देता है और सबका एक अंग होने में उत्कट आनन्द का अनुभव करता है। वह भीड़वाले राजपथ पर जाता है और मनुष्यों की गति को देखता है और सबको अपना ही अंग समझता है और अपने को सबका अंग समझता है। वह मनुष्य समुदाय की क्रिया, गति और वृद्धि का अनुभव और भोग करता है। वह भयभीत नहीं होता क्योंकि वह इस सब के अर्थ को समझता है। वह एक कार्यक्षेत्र से दूसरे में प्रवेश करता है और इसे अपने पीछे की उन शक्तियों की प्रेरणा समझता है जो सर्वदा उसकी हित हैं। वह कार्य कर डालता है, कार्य ही में प्रसन्नता प्राप्त करने के कारण और अपने कर्तव्य के पूरे पालन करने में बड़ा आनन्द अनुभव करता है, और इसीलिये वह सर्वोत्तम कार्य करता है। परन्तु कर्मों के फल के लिये—अर्थात् पुरस्कार और प्रशंसा के लिये—वह

निश्चिन्त रहता है। वह कठिन कार्य में भी उसी सुख से लग सकता है। वह उस कार्य में संसृत नहीं है। कार्य ने उसे अपने जाल में नहीं फँसाया है।

ऐसे मनुष्य को अपने कार्य से समुचित अनुमोदन मिलता है—वह उसके स्वत्व की भाँति प्राप्त होता है। जिन लोगों ने कर्मयोग का अच्छा अभ्यास कर लिया है वे यद्यपि जीवन के आडम्बरों और दिखावे से निश्चिन्त रहते हैं, तौभी वे इतना पारितोषिक पा जाते हैं जिससे उनकी आवश्यकतायें दूर रहती हैं और वे सुख से रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आवश्यकतायें अन्य लोगों की अपेक्षा थोड़ी होती हैं। उनकी रुचि सर्वदा सादी होती है और कम परन्तु अच्छी कामनाओं में प्रगट होती है। परन्तु वे अपनी जीविका को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जैसे पौधे या वृक्ष अपने पोषण को मिट्टी, जल और वायु से प्राप्त करते हैं। वे उसी प्रकार दौलत के पीछे नहीं पड़ते जैसे वे सुख के पीछे नहीं पड़ते, परन्तु तौभी बिना बुलाये ही सुख उनके पास दौड़ा जाता है और जीविका के साधन उपस्थित ही रहते हैं। जिस मनुष्य ने भौतिक जीवन के जाल से मुक्ति प्राप्त कर ली है उसे केवल जीने में इतना बड़ा सुख मिलता है जितना लगनवाले मनुष्य को अपनी सफलता के साथ भी नहीं मिलता।

जिस वस्तु की चाहना उसे सुख की सामग्री समझ कर की जाती है, वह जब प्राप्त हो जाती है तब उसके भीतर हृदय-पीड़क डंक छिपा मिलता है। परन्तु यदि मनुष्य वस्तुओं को सुखद न समझे और उन्हें केवल जीवन की संगातिनी और

सहवासिनी समझे तो उनका विष झड़ जाता है और डङ्क कुंठित हो जाता है। यदि मनुष्य नामवरी और ख्याति को चिर अभीष्ट सुख की दातृ समझता है तो जब उसे ख्याति प्राप्त हो जाती है तो उसी ख्याति में ऐसी ऐसी दुखदायिनी बातें उत्पन्न होने लगती हैं जो ख्याति प्राप्ति के सुख को मिट्टी में मिला देती हैं। परन्तु जो मनुष्य निष्काम है और केवल कर्म ही के लिये कर्म करता है और लगन में नहीं फँसता उसे प्रसङ्ग-वशात् नामवरी भी मिल सकती है और उस नामवरी में पीड़ा नहीं रहती।

बहुत सी चीजें जिनमें मनुष्य अपने सारे जीवन को खपा देते हैं, सुख की अपेक्षा दुःख अधिक पहुँचाती हैं। यह बात केवल इसी लिये होती है कि मनुष्य अपने आपे को सुख का मूल न समझ कर वस्तु को सुखमूल समझता है। ज्योंही मनुष्य अपने सुख के संयोग को किसी मनुष्य या वस्तु में जोड़ता है त्योंही वह पीड़ा और असुख के प्रवेश के लिये द्वार खोल लेता है। क्योंकि जीव की प्यास को बाहरी मनुष्य या वस्तु नहीं बुझा सकते और वह निराशा जो उसे प्राप्त होगी—और प्राप्त निश्चय ही होगी, क्योंकि वह मनुष्य या वस्तु के आश्रित है—वह उसे चिन्तित सुख के स्थान में पीड़ा और दुःख ही पहुँचावेगी।

संसृतिवाले मनुष्य को प्रेम भी, जो श्रेष्ठ भावना कहा जाता है, दुःख ही उत्पन्न करता है। योगशास्त्र प्रेम, अधिक प्रेम, और और भी अधिक प्रेम, का मन्त्र पढ़ाता है। परन्तु साथ ही यह भी सिखाता है कि प्रेम भी जहाँ स्वार्थी हुआ तहाँ

अपने पीछे दुःख ही को बुलाता है । जब हम कहते हैं कि हम अमुक व्यक्ति पर प्रेम करते हैं तो प्रायः हमारा अभिप्राय यही होता है कि हम चाहते हैं कि वह मनुष्य हम पर प्रेम करे और जब वह प्रेम नहीं करता तब हम असुखी हो जाते हैं । सच्चा प्रेम ऐसा नहीं होता । अस्वार्थी प्रेम अपने प्रेमपात्र की ओर उमँग पड़ता है और परिवर्तन में कुछ नहीं चाहता । उसका आनन्द प्रेम-भाजन के सुख में है, प्रेम के स्वार्थी परिवर्तन में नहीं । सच्चा प्रेम अपने ही मन से यह कहता है "दो, दो, दो" और स्वार्थी भौतिक प्रेम अपने प्रेमभाजन ही से माँगता है कि "मुझे दो, मुझे दो, मुझे दो"। सच्चा प्रेम सूर्य की भाँति प्रकाश वितरण करता है और स्वार्थी प्रेम बवंडर की भाँति अपनी ही ओर खींचता है ।

जब कोई मनुष्य दूसरे के साथ ऐसा प्रेम करता है कि यदि इस दूसरे का प्रेम खिंच जाय तो पहले का भी प्रेम मुर्झा जाय, तो वह पहला मनुष्य घटनाओं का दास है—दूसरे की भावनाओं विभावनाओं का दास है । वह इस प्रकार संसृति में फँसा है कि वह निश्चय निराशा, अपमान और परिवर्तन की पीड़ा को भोगेगा । और वह प्रायः ऐसी पीड़ाओं को आई हुई ही समझे, क्योंकि ऐसा प्रेम नश्वर होने के कारण निश्चय मरेगा और इसकी मृत्यु उस मनुष्य पर पीड़ा और दुःख लावेगी जो अपने सुख के लिये इसी पर भरोसा करता है । मुक्त और निष्काम मनुष्यों का प्रेम भिन्न ही हुआ करता है । ये लोग छोटे प्रेमी नहीं होते, किन्तु बड़े प्रेमी होते हैं, परन्तु ये अपने प्रेमभाजन की व्यक्ति के प्रेमी नहीं होते और न प्रेम-

भाजन के प्रेम परिवर्तन के आश्रित होते हैं। यही प्रेम है, यही सच्चा प्रेम है, नकि वह स्वार्थी लोलुपता जो प्रेम के नाम पर ठगती फिरती है परन्तु वास्तव में प्रेम की निकृष्ट नक़ल है।

एडवार्ड कार्पेन्टर साहब प्रेम के विषय में कहते हैं कि:—

"जो मनुष्य केवल मर्त्य प्राणी या वस्तु पर प्रेम करता है और बस, वह मुक्त नहीं है। उसने तो अपने को मृत्यु को सौंप दिया है"।

" उस के लिये प्रत्येक मोड़ पर फाँसनेवाला काला रूप घात लगाये हुए है जो विश्व को कलङ्कित करता है "।

" परन्तु जो प्रेमी है उसे मर्त्यों पर भी प्रेम करना ही होगा, और जो पूरा प्रेमी है उसे निश्चय मुक्त होना होगा "।

"प्रेम यद्यपि प्रकाशमय है, तौ भी जबतक वह मनुष्य के स्वातन्त्र्य को हरण या निर्बल करता है, तबतक एक रोग है"।

"इस लिये यदि तुम प्रेम करना चाहते हो तो प्रेम से हटो, उसे अपना दास बनाओ, तब दुनिया की सब करामातें तुम्हारे हाथों में आ जायँगी "।

वे यह भी कहते हैं कि:—

" प्रेम के परिणाम को इस कार्य या उस काम में मन चाहो—नहीं तो शायद उसका परिणाम ही हो जावे "।

" परन्तु इस कार्य, उस कार्य और हजारों कार्यों का परिणाम प्रेम में चाहो "।

"जिससे अन्त में तुम उस बात को उत्पन्न करोगे जिसकी तुम्हें आकांक्षा है "।

" और जब ये सब बातें बीत जावेंगी तब भी तुम्हारे

पास एक बड़ी और अमर सम्पत्ति रह जायगी जिसे कोई भी नहीं छीन सकता "।

" योगियों का कथन है कि सांसारिक अभ्युदयेच्छा का मूलोच्छेद कर डालो परन्तु साथ ही कार्य उसी प्रकार करो जैसे अभ्युदयेच्छावाले करते हैं "। यही प्रगट में स्वविरोधी कथन निष्काम कर्म का मूल मन्त्र बतलाता है। यह सम्भव है कि सांसारिक अभ्युदयेच्छा का उन्मूलन कर दिया जाय और तब भी उसी प्रकार कर्म किया जाय जैसे अभ्युदयेच्छावाले करते हैं।

निष्काम कर्म की मूल भावना—कर्म रहस्य—यह है कि जीवन की अनित्य वस्तुओं में फँसने से बचे—यह वह माया है जो असंख्य मनुष्यों को मूर्ख बना चुकी है। मनुष्य अपने को अपनी ही गढ़ी हुई वस्तुओं में या अपनी अभीष्ट वस्तुओं में इतना बाँध डालते हैं। वे अपने को स्वामी के स्थान पर दास बना डालते हैं। वे अपने को कामनाओं में बाँध देते हैं और वे कामनायें कभी इधर कभी उधर, कभी दलदल में, कभी ऊँचे पथरीले पथ पर उन्हें ले जाया करती हैं, और अन्त में थका कर छोड़ देती हैं। ये कामनायें मन के नीचे और अविकसित अंग से उत्पन्न होती हैं, और अपने स्थान पर बहुत ही ठीक थीं, पर अब विकसित मनुष्य के पीछे बीत गई जो मनुष्य अब उनके परे हो गया है। अब वह उनसे डरता नहीं, क्योंकि वह उनको अपना एक अङ्ग समझता है। वह उनकी उत्पत्ति तथा उनके इतिहास को जानता है और समझता है कि इन कामनाओं ने मेरे और जाति के विकास में पहले कैसा २ कार्य

किया है, पर अब मैं इन कामनाओं के पार आ गया हूँ। ऐसा समझ कर वह अब अपने को कामनाओं के बन्धन में नहीं डालता। वह उनके जाल में फँसना अस्वीकार कर देता है। जैसा कि कारपेण्टर साहब कहते हैं :—

"शनैः २ परन्तु दृढ़ता पूर्वक—जैसे मक्खी अपने पैरों को उस शहद से साफ कर डालती है जिसने उसे फँसाया था—"

"वैसे ही तुम भी, चाहे थोड़े ही काल के लिये क्यों न हो, उस बात के प्रत्येक कण को निकाल डालो जो तुम्हारे मन की स्वच्छता और प्रकाश को मैला करता है। अपने आप में आजाओ, देने में सन्तोष करो, परन्तु किसी से कोई चीज़ माँगो मत "।

"उस परम पुरुष के शान्त प्रकाश में, जो सारे विश्व में व्याप रहा है, और जो सर्व काल से अविनाशी और अक्षय है—"

"उसी में तुम सन्तुष्ट हो कर निवास करो क्योंकि तुम वहाँ निवास कर सकते हो "।

वही कवि कामना के विषय में कहता है कि:—

"जब तुम्हारा शरीर वृत्तियों के झोंके में पड़ जाय—जैसा कि कभी २ अवश्य होगा—तब तुम ऐसा मत कहो कि "हम इस बात या उस बात को चाहते हैं"।

"क्योंकि अहम् न तो किसी बात की कामना करता है और न किसी से डरता है, परन्तु स्वतन्त्र और नित्यप्रकाश में स्वर्ग में रहता है और सूर्य की भांति चारो ओर प्रकाश वितरण करता है "।

"उस बहुमूल्य पदार्थ को किसी गड़बड़ द्वारा अपकृष्ट

होकर परस्पर विरोधी वस्तुओं के संसार और मृत्यु तथा दुःख में मत फँसने दो "।

"क्योंकि जैसे प्रकाश-शिखर की ज्योति आश्चर्यमय वेग से सागर और भूमि पर फैलती है, परन्तु दीप अटल रहता है "।

"वैसे ही तुम्हारा काम-शरीर अनवरत दुःख सागर में चलायमान रहता है, क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है, परन्तु अहम् स्वर्ग में स्थिर और अटल है "।

"इसी लिये मैं कहता हूँ कि इस विषय में अपने मन को गड़बड़ के बादलों से मत आच्छादित होने दो "।

"परन्तु जब कभी कामना आकर टक्कर लगावे "।

"तब तुम उसे आने दो, और उसका सत्कार करो, क्योंकि तुम्हारा कर्तव्य ही ऐसा है—"

" तो भी मृदुता से अपने असली आपे को उससे पृथक रक्खो "।

" नहीं तो कदाचित् वह तुम्हें चीर फाड़ डाले " ।

कर्मयोगी कर्म और जीवन को यथातथ्य समझता है और इनके विषय में सर्वसाधारण के भ्रमों से धोखा नहीं खाता। सर्वसाधारण की यह जो भ्रांत भावना है कि कर्म एक दुःखमय चीज़ मानव जाति के सिर थोपी गयी है उस भ्रम को वह समझता है। वह उसे (कर्म को) मानव जाति के लिये शुभ और कल्याणमय वस्तु समझता है। वह उन लाभ और सुखों का अनुभव करता है, जो तब कर्म से प्राप्त होते हैं जब निष्काम किया जाता है, और इसलिये वह कर्मों से लाभ उठाता है।

जब किसी कारण से वह घबराता और व्यग्र होता है तब कर्म ही में उसको कुछ सान्त्वना मिलती है। प्रकृति के नीच अंग जब उसे लोभाते हैं तब उनके दमन करने में उसे कर्म ही से सहाया मिलती है, और जब नये २ प्रश्न उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं, जैसा कि सर्वदा हुआ करता है, तब कर्म ही से उसको आश्चर्यजनक सहायता मिलती है।

मनुष्य के लिये कर्म करना स्वाभाविक है। यह मनुष्य में हो कर सृजन करने वाली दैवी-शक्ति का आविर्भाव है। यह आविष्करण और विकास के लिये कामना है।

अगर तुम्हारा जीव संसार के आडम्बरों से, उसके खोखले उद्देश्यों और आदर्शों से, उसकी निष्ठुरता से, उसके अन्याय से, उसके अन्वेषन से, उसके कठपुतली के खेलों से, जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के चारों ओर प्रगट हुआ करते हैं, विरत होता हो तो अपने आप की भीतरी कोठरी की शान्ति में हट कर क्षणभर विश्राम कर लो। अधीर मत हो, सबको त्यागनेवाला मत बनो, शोक और यातना में विलाप मत करो। तुम्हें एक काम करना है, जिसे दूसरा कोई नहीं कर सकता। तुम्हारे जीवन का अर्थ और उद्देश्य है। इस लिये फिर उसी कर्म की धूम में लौट जाओ। अपने कर्तव्य को भली भाँति सम्पादन करो, आज जो तुम्हारे सम्मुख कार्य उपस्थित हैं उन्हें कर डालो, तुम्हारे करने के लिए जो उचित कर्तव्य तुम्हें समझ पड़े उन्हें करते जाओ। यह सब तुम्हारे जीव की उन्नति और मानव जाति के विकास का अंग है। इस सब का कुछ अर्थ है। परन्तु

कर्म के फल के जाल में फँसने से सावधान रहना—प्रतिफल की कामना से पृथक् रहना। अपनी दृष्टि को स्वच्छ और अपने मन को बादलों से अनाच्छादित रखना।

यह मत समझो कि तुम इस कर्मयुद्ध से पृथक् रह सकते हो। "परन्तु यद्यपि तुम युद्ध कर रहे हो तो भी संसृति द्वारा योद्धा मत बनो"।

यदि तुम्हारे कर्म ने तुम्हें कर्मों के बीच में स्थापित किया है, कर्म करो। जो अवस्थाएं तुम्हें व्याकुल और परेशान कर रही हैं उनके पार जाने का यही मार्ग है कि कर्म कर के उनको पार कर जाओ।

तुम अपने कर्म से भाग नहीं सकते हो। तुम्हें कर्म को कर कर के उसे चुका देना चाहिये। उसे कर डालो। अन्त में तुम्हारा लाभ होगा।

इस प्रश्न का बहुत ही अच्छा उपपादन श्रीमद्भगवतगीता में श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा किया गया है। अर्जुन विलाप करते हैं कि "मैं बलात् जीवन के युद्ध में प्रवृत्त किया गया हूँ" और श्रीकृष्ण भगवान् से उससे निस्तार की प्रार्थना करते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् उन्हें उनका कर्तव्य बतलाते हैं और प्रेरणा करते हैं कि उसका पालन करो:—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैःकर्मयोगमसक्तःस विशिष्यते ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥

अर्थ—कर्मों का प्रारम्भ न करने से पुरुष को नैष्कर्म्य-प्राप्ति नहीं हो जाती, और कर्मों का त्याग करने से सिद्धि नहीं मिल जाती। कोई मनुष्य कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता, प्राकृतिक गुण विवश कर के कर्म करा ही लेते हैं। जो मूर्ख कर्मेन्द्रियों (हाथ पैर आदि) को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है। हे अर्जुन, जो मन से इन्द्रियों को वशीभूत किये कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है, पर आप अनासक्त रहता है, वह बहुत श्रेष्ठ मनुष्य है। अपने नियमित कर्म (कर्त्तव्य) को तुम करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अत्यन्त अच्छा है। कर्म न करने से शरीर का निर्वाह भी तो नहीं होता। कर्त्तव्य (यज्ञार्थ कर्म) के अतिरिक्त अन्य (स्वार्थलिप्त) कर्म बन्धन देने वाले होते हैं, कर्त्तव्य के लिये तुम फल की आशा छोड़ कर कर्म करते जाओ।

हम अब उसी गीता के शब्दों के साथ इस पाठ को समाप्त करते हैं। हम इन श्लोकों को बहुत ही उत्तम समझते

हैं। इनको आप स्मरण कर रक्खेंगे तो बहुत अच्छा होगा:—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यःशाश्वतो यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थ—यह आत्मा न तो कभी जनमता है और न मरता ही है, न यह ऐसा ही है कि एक बार होकर फिर होने वाला नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीर का वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता।

यदि आप श्रीकृष्ण भगवान् के इन शब्दों के यथार्थ अर्थ का ग्रहण कर लेते और उसे अपनी चेतना का एक अंग बना लेते तो आपको फिर कर्म योग की शिक्षा की आवश्यकता न होती, आप प्रवृत्ति ही से जीवन को जीते और वस्तुओं को यथार्थ रूप से देखते और वैसा न देखते जैसा भ्रम के ऐनक द्वारा वे देख पड़ती हैं। ऐसे ज्ञान से आपको यथार्थ आपे का अनुभव हो जाता जिसके एक बार प्राप्त हो जाने से शेष सब सरल और स्पष्ट हो जाता।

ये शब्द और यहँ ज्ञान आपको शान्ति प्रदान करें।

———

ज्ञानयोग ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—श्रीकृष्ण भगवान् ।

ज्ञान योग ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का योग है । ज्ञान संस्कृत 'ज्ञा' धातु से बना है जिसका अर्थ "जानना" है । ज्ञान योग वह मार्ग है जिसकी ओर दार्शनिक और बुद्धिप्रबल मनुष्य आकर्षित होते हैं । जो लोग आध्यात्मिक तर्क, सूक्ष्म बुद्धिमूलक विचार, दर्शन पदार्थविज्ञान और ऐसे अन्य शास्त्रों में जी लगाते हैं वे स्वभावतः ज्ञानयोग की ओर लगते हैं. क्योंकि यह उनके लिये रुचिकर मार्ग उपस्थित करता है जो उन्हें बहुत ही प्रिय होता है ।

परन्तु योगदर्शन की इस शाखा के पाठ से लाभ उठाने के लिये बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् या पण्डित होने की बड़ी आवश्यकता नहीं है । यह उन सब लोगों के लिये खुला है जो जीवन के 'क्यों' और 'किसलिये' को जानना चाहते हैं—जो लोग साधारण शिक्षा और मजहबों से पाये हुये मामूली विवरणों से सन्तुष्ट नहीं होते—जो लोग बाह्य ज्ञान को तो उचित स्थान पर अच्छा समझते हैं पर भीतरी ज्ञान के लिये जिनकी जिज्ञासा प्यासी रहती है ।

"कर्मयोगी के चित्त में सर्वदा 'कैसे' या 'क्या' का प्रश्न उठा करता है । ज्ञानयोगी का नित्य प्रश्न "क्यों" का है ।

यह " क्यों " का प्रश्न दिन पर दिन अधिकाधिक मनुष्यों के चित्त में जग रहा है। सत्य आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास बहुत से चित्तों को बेचैन किये है और उन मनुष्यों को ऐसी चेष्टाओं में लगाये हुए है कि जिनसे यह प्यास बुझे—आध्यात्मिक भूख जीव के लिये पुष्टिकारक आहार माँग रही है।

मनुष्य ने अपने आसपास की भौतिक चीजों की अनित्यता को देखना आरम्भ कर दिया है, चाहे ये भौतिक चीजें कितनी ही बड़ी क्यों न हों। वे देखते हैं कि एक सभ्यता पर दूसरी का उदय होता है, जातियों का उत्थान, अभ्युदय और पतन होता है—जनसमुदाय जङ्गलीपन से उन्नति करते करते भौतिक सिद्धि की ऊँचाई तक पहुँचता है और तब फिर क्षीण होने लगता है। भूतल के नीचे के गड़े हुए प्राचीन वैभवों में प्राचीन काल की उस बड़ी सभ्यता के चिन्ह पाये जाते हैं जिसका इतिहास में भी लेख नहीं है। उस काल के मनुष्य भी अपने को मानव-सिद्धि के शिखर पर समझते रहे होंगे और यह ख्याल करते रहे होंगे कि आगे आनेवाली सन्तानों के लिये अब सिद्धि ही करना क्या शेष रह गया है। पर वे भी विलीन हो गये, इतिहास के पन्नो पर एक चिन्ह भी न छोड़ गये। उन सभ्यताओं के बड़े बड़े दार्शनिक, नीतिज्ञ, योद्धा और आचार्यगण अब अज्ञात हैं और वे मनुष्य हमारे लिये बिना नाम के हैं। अब एक यहाँ टूटे स्तम्भ और वहाँ भग्न-मूर्ति को छोड़ कर उनकी कथा बतानेवाली कोई बात शेष न रह गई। सोचनेवाला देखता है कि यही परिणाम सब जातियों और सभ्यताओं का होगा और वही हमारा भी होगा।

हम निश्चय गुजर जायँगे—हमारी कीर्ति भी भूल जायगी—भविष्य जातियाँ हमारे अभिमान के भग्न खँडहरों पर अपनी सभ्यता खड़ी करेंगी और हम लोगों के विषय में खोज करेंगी कि हम लोग कौन और क्या थे।

कितने मतों और मजहबों का उत्थान और प्रसार हुआ, लाखों करोड़ों मनुष्य उनके अनुयायी हुए, परन्तु वे भी उन मिथ्या विश्वासों और बाहरी आडम्बरों के बोझ से दब कर, जिन्हें मनुष्य उस सत्य की किरण पर आरोपित किया करता है, जिसने पहले उस मत या मजहब को चमकाया था, डूब कर विलीन हो गये। सर्वदा से ऐसा ही होता आया है और आगे भी होता रहेगा। हम इन बातों पर सन्देह कर सकते हैं। इसी प्रकार लुप्त सभ्यता के मनुष्य भी निश्चय सन्देह करते रहे होंगे, परन्तु यह बात होगी अवश्य। ये सब बातें नश्वर हैं—मानव कीर्ति है—और नश्वर सर्वदा नाश हो जायगा और बीत जायगा।

मनुष्य अपने चारो ओर निहारते हैं और मर्त्यजीवन के घटक, अर्थात् संयोजक बातों, की अनित्यता का अनुभव करके उनके ऊपर चिन्तन करने लगते हैं। वे पूछते हैं कि "हम कहां से आये—कहां जायँगे—हमारे जीवन का अभिप्राय क्या है"। वे अनगिनत युक्तियों से जीवन की पहेली बूझने की चेष्टा करते हैं। वे पुराने निर्देशों को त्याग देते हैं और नये निर्देशों को धारण करते हैं जो फिर वैसे ही असन्तोषकर प्रतीत होने लगते हैं। वे तेली के बैल की भांति चलने लगते हैं और सारा परिश्रम करने के पश्चात् भी उसी स्थान पर

रहते हैं जहां से चले थे। उनकी गति पिंजड़े के उस पक्षी के समान होती है जो पिंजड़े की छड़ों पर टक्कर मारते मारते मर जाता है। वे अपनी बुद्धि के वृत्त की परिधि पर तर्क का चक्कर लगाते हैं, और घूम कर उसी स्थान पर पहुँचते हैं जहां से चले थे और वास्तव में तनिक भी आगे प्रगति नहीं करते। वे बातों को समझाना चाहते हैं, पर बातों को केवल दूसरा नाम देने ही में समर्थ होते हैं। वे ज्ञान के पर्वत पर चढ़ते हैं और जब अपनी जान में शिखर पर पहुँच जाते हैं तब चारों ओर दृष्टि फैलाते हैं तो क्या देखते हैं कि अभी तो नीचे की केवल एक पहाड़ी पर आये हैं, और उससे बहुत ऊँची उठती हुई पर्वतमाला के ऊपर पर्वतमाला है तथा जिसके उच्चतम शिखर बादलों से आच्छादित हैं।

जिज्ञासु की गलती यहां है कि वह बाहर 'सत्य' की खोज कर रहा है। वह 'सत्य' बाहर नहीं मिल सकता, क्योंकि वह तो भीतर है। यह बात सत्य है कि भीतरी प्रकाश से बाहरी वस्तुएँ अच्छी भांति देखी जा सकती हैं और उनमें से सत्य के अंश संचित किये जा सकते हैं। परन्तु भीतरी प्रकाश के बिना बाह्य पदार्थ कोई उत्तर न दे सकेंगे, चाहे आप कितना ही जोर से क्यों न पूछें, पर आप अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि सुन पावेंगे। सापेक्ष भूमिका के खोजी केवल वही बात पावेंगे जिसे वे ढूँढ़ेंगे। वे उसी को पावेंगे जिसकी आशा लगाये रहेंगे, क्योंकि जिस युक्ति को वे पसन्द करते हैं उसमें भी कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य है और इसलिये उन्हें अवश्य कुछ न कुछ ऐसी बातें मिल ही जायँगी जो उसे

अंश से मेल खा जायँ। परन्तु जो मनुष्य ठीक विपरीत बातों को ढूँढ़ेगा वह भी अपने अभीष्ट को पावेगा, क्योंकि उसमें भी कुछ सत्य का अंश है और उस अंश के अनुकूल कुछ न कुछ मिल ही जायगा। परन्तु प्रत्येक यही ग़लती कर रहा है कि अपने प्राप्त सत्य के अंश को सब कुछ समझ रहा है, और दूसरे के सत्यांश पर झगड़ रहा है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न मत खड़े हो जाते हैं। अब इन मतों के अन्तर्गत छोटी छोटी बातों में मतभेद होने लगता है। फिर पृथक पृथक् शाखाएँ खड़ी होने लगती हैं और इसी प्रकार चला करता है। और जिज्ञासु को अधिक अधिक उलझन मालूम होने लगती है कि यथार्थ बात क्या है।

हमारे शिष्यों को यह न समझना चाहिये कि हम केवल अन्य देशों के दर्शनों और मतों के विषय में कह रहे हैं। भारतवर्ष की भी यही दशा है। भारतवर्ष में अनगिनत मत, मतान्तर और सम्प्रदायें हैं। प्रत्येक कुछ सत्य का अंश लेकर प्रचलित हुआ, परन्तु उस पवित्र सत्य में लोगों ने इतनी गड़बड़ बातें पीछे से मिला दीं कि बाद के अनुयायियों को असल सत्य तो मिला नहीं और आदि स्थापकों के शान्त स्वच्छ तर्क के स्थान पर मिथ्या विश्वास और व्यर्थ युक्तियाँ रह गईं। इस विषय में सभी देश समान हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी दुनियाँ के सब भागों में थोड़े थोड़े ऐसे मनुष्य होते हैं जो सत्य के दीपक को प्रज्वलित रखते हैं और जो बड़ी सावधानी और लगातार भक्ति से उस दीपशिखा को जीवित रखते हैं। ये लोग अपनी या अन्यों की युक्तियों को सत्य में नहीं मिलने

देते। वे कहते हैं कि आइए यदि उचित समझें तो हम लोग तर्क करें या दूसरों के तर्क को सुनें। परन्तु हमें इन तर्कों को उस ईश्वरीय सत्य में न मिलाना चाहिये जो परम्परा से हम लोगों के पास चला आता है। यह बात सत्य है कि भारतवर्ष सर्वदा बड़े आध्यात्मिक सत्यों का उद्गमस्थान और केन्द्र रहा है। बड़े बड़े मजहबों ने अपना असली जन्म इसी पूर्व ही में लिया। भारतवर्ष में अब भी गंभीर विचारों और अध्ययन के लिये पश्चिमीय व्यग्र देशों की अपेक्षा अधिक सुपास है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हिन्दू सर्वसाधारण अध्यात्म में उच्च विकास किये हुए हैं। इसके विपरीत, ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ मिथ्या विश्वास के घास-पात यहाँ से अधिक जमें। इसका कारण सरलता से समझा जा सकता है कि जो अवस्थाएँ आध्यात्मिक खोज और अध्ययन में सहायक होती हैं वे ही अवस्थाएँ भूमि को ऐसी उपजाऊ बना देती हैं कि मिथ्या विश्वास के घास-पात भी अधिकता से उगें। जिस उपजाऊ भूमि में फल फूल और अन्न अधिकता से उत्पन्न होते हैं, वही उपजाऊ भूमि यदि अरक्षित छोड़ दी जाय तो उसमें घास-पात भी अधिकता से उग आयेंगे। भारतवर्ष में यदि कृषि का क्षेत्र अरक्षित छोड़ दिया जाय तो एकाध ही वर्ष में फिर उस स्थान पर जंगल हो जायगा जहाँ कृषक का अन्न लहरा रहा था।

पूर्व में मिथ्या विश्वास के झूठे देवता बहुतायत से पाये जाते हैं। परन्तु पश्चिम में भी भौतिक सम्पत्ति का नया देवता मन्दिर में आसन ग्रहण किये हुए है। इस पश्चिमीय

धर्म देव और पूर्वीय अगस्त्य देवताओं में वंश की हद समानता है।

ज्ञानयोगी मजहब के सब रूपों और दर्शनों की सब शाखाओं में सत्य देखता है, परन्तु वह समझता है कि यह सत्य महा सत्य का एक छोटा अंश है। वह किसी मत या दार्शनिक शाखा में दोष नहीं पाता। उसे किसी में विवाद करना नहीं है। वह केवल एक ही बात कहता है कि इतना ही सत्य नहीं है। उसका कोई विशेष मत मतान्तर नहीं होता, क्योंकि वह सब विचारशीलों और धर्माचार्यों को भाई समझता है। उसका विश्वास इतना बड़ा होता है कि उसी के अन्तर्गत सब आ सकते हैं। परन्तु वह किसी की परिमिति से बद्ध नहीं होता। अन्य मतावलम्बियों के साथ यह कठिनाई रहती है कि वे परमेश्वर को परिमित करना चाहते हैं, और कुछ मनुष्यों को परमेश्वर से पृथक करते हैं। ज्ञानयोगी परमेश्वर में कोई इयत्ता नहीं देख पाता और किसी मनुष्य या जीव को परमेश्वर से पृथक् नहीं ख्याल कर सकता।

इस पाठ में हम ज्ञानयोगियों की मौलिक भावनाओं की शिक्षा देंगे जिसमें उन अनेक अनुयायिओं की परस्पर विरोधी युक्तियाँ न होंगी जिनमें से प्रत्येक मूल तत्व को तो मानते हैं, पर उन्हीं की शाखाओं में अपने अपने वाद और अपने अपने अनुमान जोड़ देते हैं। ये मौलिक सत्य सभी मजहबों की भीतरी शिक्षाओं में पाये जाते हैं, जिन्हें आदि स्थापकों ने अपने आध्यात्मिक मानस द्वारा अविष्कृत किया था। ये शिक्षायें अनुयायियों की प्रत्येक पीढ़ी में निर्बल होने लगती हैं

और अन्त में प्रारम्भिक सत्य पूर्णतया विलुप्त हो जाता है। इस के उदाहरण के रूप में "सरमन आन दि माउण्ट" (Surmon on the Mount)को पढ़िये, जिसकी शिक्षाओं का आदर सभी देश के भावयोगी और रहस्यवेत्ता लोग करते हैं। अब उसी शिक्षा के अनुयायी कृस्तानों को देखिये कि ईसा के उपदेश के ऊपरी रूप का तो अनुसरण करते हैं, पर निःसंकोच कहते हैं कि ईसा के उपदेश व्यवहार में लाने के योग्य नहीं हैं। ईसा में श्रद्धा न रखनेवाले उनके उपदेशों को अस्वीकार कर सकते हैं परन्तु यह ईसा के अनुयायियों ही के लिये रह जाता है कि उनके उपदेशों को मनुष्य के व्यवहार के अयोग्य कहें। यही दशा सब मजहबों के अनुयायियों की है कि ऊपरी रूप का तो अनुसरण करते हैं परन्तु शिक्षाओं में उन्हीं का ग्रहण करते हैं जो उनके जीवन के अनुकूल होती हैं। शिक्षाओं के अनुसार अपने जीवन को बनाने के स्थान पर लोग शिक्षाओं ही को अपने जीवन के अनुकूल बनाना चाहते हैं और बनाते हैं। हम इन बातों को कठोर आलोचना की भाँति नहीं कहते वरन् सब मजहबों की ऊपरी और भीतरी शिक्षा का अन्तर दिखलाने के लिये उदाहरणरूप कहते हैं।

ज्ञानयोग की इन मौलिक शिक्षाओं में किसी मजहब की असली शिक्षा अर्थात् भीतरी शिक्षा के प्रतिकूल कुछ भी नहीं है, और इन मौलिक सत्यों को स्वीकार करने में मनुष्य मजहब के किसी भी रूप से अपना सम्बन्ध बनाए रख सकता है। सच तो यह है कि ऐसे ज्ञान से मनुष्य अपने मजहब के भीतरी पटल को समझने के योग्य हो जाता है और उसके

सौन्दर्य को समझने लगता है, और उसके साथी पूजक लोग केवल रूप और शब्दों ही में भूले रहते हैं। इसी प्रकार वे लोग भी जो मजहब के किसी रूप को भी नहीं धारण करते इन शिक्षाओं में वह आध्यात्मिक सुख पावेंगे जिसे अबतक कहीं भी नहीं पाया था, और जब इसकी पूरी भावना ग्रहण कर ली जायगी तब ये शिक्षायें तर्क के पूर्ण अनुकूल पाई जावेंगी। नास्तिक और देहात्मवादी भी इन शिक्षाओं में उस तत्व को पा सकते हैं जिसमें वे लगे हैं। वे प्रकृति के विषय में वाद करते आये हैं। उन्हें सोच लेना चाहिये कि ज्ञानी के निकट "ईश्वर" और "प्रकृति" एक ही अर्थ के द्योतक हैं, तब उनकी आँखों से आवरण हट जायगा।

इस पाठ में हम केवल मौलिक बातों ही का वर्णन करेंगे और किसी विशेष युक्ति या दर्शन की रचना की चेष्टा न करेंगे। इसमें वह सामग्री प्राप्त होगी जिससे सब दर्शनों की कुंजी मिल जायगी, और प्रत्येक शिष्य अपने अनुकूल एक दर्शन बना सकेगा। पर सर्वदा इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि ऐसी युक्तियां केवल कार्य करने की कल्पनाएं होंगी, मौलिक सत्य नहीं। ऐसा समझ कर अपने कार्य में हम आगे बढ़ते हैं।

विश्व की पहेली के विचार में हमें विवश होकर मूल तत्त्वों पर जाना होता है—अर्थात् उस बात पर जाना होता है जो प्रत्येक गोचर वस्तु का आधार स्वरूप है। साधारण मनुष्य इस विचार को इतना ही कह कर समाप्त कर देता है कि "परमेश्वर सब का आधार है और हम परमेश्वर को समझ

नहीं सकते" जो बिलकुल सत्य बात है। परन्तु उससे पूछिये कि परमेश्वर के विषय में तुम्हारी क्या भावना है, तो आप के जानने में आवेगा कि प्रत्येक व्यक्ति में परमेश्वर के विषय में भिन्न भिन्न भावना है। प्रत्येक मनुष्य अपनी भावना—या भावना का अभाव—रखता है। परन्तु प्रायः सभी लोग आप से कहेंगे कि परमेश्वर ऐसी वस्तु या सत्ता है जो प्रकृति के बाहर है और उसने किसी तरह जगत को संचालित करके उसे किसी अद्भुत रीति से चलते हुए छोड़ दिया है। साधारण मनुष्य प्रत्येक बात के विषय में इसी उत्तर को पर्य्याप्त समझता है कि "ईश्वर ने ऐसा किया", यद्यपि परमेश्वर के विषय में उसकी भावना उससे बढ़ कर नहीं है जैसी एक वहशी मनुष्य की भावना अपने देवता के विषय में है। जबतक हम परमेश्वर की यथार्थता के विषय में कुछ न समझेंगे तब तक हम विश्व और जीवन की यथार्थता के विषय में कुछ भी न समझ सकेंगे। यह सत्य है कि परिमित मनुष्य अप्रमेय को बहुत ही कम समझ सकता है। परन्तु तौ भी वह कुछ न कुछ आध्यात्मिक मन द्वारा कुछ न कुछ समझ सकेगा, और उसी कुछ न कुछ को ज्ञानी लोग सत्य कहते हैं। इसी लिये नहीं कि उनका केवल विश्वास है कि वह सत्य है, किन्तु इसलिये कि जो कोई भी अपने आध्यात्मिक मन में ज्ञान प्रकाशित करने देगा वही इस ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा। केवल सत्य बात के कथन मात्र से प्रतिभा उसकी सत्यता के प्रमाण को उन मनुष्यों के मन पर झलका देती है जो इसके लिये अधिकारी हो गए हैं। यह बुद्धि से परे जा सकती है,

परन्तु बुद्धि भी उस दशा में इसे अस्वीकार नहीं कर सकती जब मन अपने संचित कूड़ा-करकट से स्वच्छ हो जाता है।

ज्ञानयोग के शिष्य के लिये गुरु सर्वदा उपदेश देता है कि कुछ मानसिक क्रिया, शिक्षा और आत्म-परीक्षा का अभ्यास इस अभिप्राय से किया जाय कि पिछले दुराग्रह, पूर्वधारित मति, मताग्रही शिक्षा, पैतृक वृत्तियां, तर्कहीन सूचनायें जो बचपन से उसके मन में भर दी गई हैं और मन की ऐसी अनेक सामग्रियां पृथक हटा दी जायँ। स्मरण रखिये कि हम "पृथक हटा दी जायँ" कहते हैं, "त्याग दी जायँ" नहीं कहते, क्योंकि पृथक हटा देने से यदि आवश्यकता हो तो हम फिर ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु पृथक हटा देने से मन सत्य के नये और पूर्ण साक्षात्कार को बिना विक्षेप और बाधा के, बिना पुरानी युक्तियों, परामितियों और भ्रान्त उपदेशों की मिलौनी के ग्रहण कर सकेगा। ज्ञानी लोगों की प्रतिज्ञा है कि यदि इस रीति से मन स्वच्छ कर लिया जायगा तो अधिकारी होकर प्रतिभा ही से वह उस सत्य को अनुभव कर लेगा जो उसके सम्मुख उपस्थित होगा और बिना कठिनाई के शुद्ध धातु को मिलौनी से पृथक समझ जायगा।

हम अपने शिष्यों से आग्रह नहीं करते कि इसी समय तैयारी की इस शिक्षा का अभ्यास करें, किन्तु केवल यही चाहते हैं कि क्षण भर के लिये दुराग्रहों को "पृथक् हटा दें" और इस कथन को विचार का पूरा उचित क्षेत्र दें। यदि यह आप पर असर नहीं पहुँचाता तो कुछ हानि नहीं। आप अभी इसके लिये तैयार नहीं हैं। यदि इसका आप पर असर

होता है। यदि यह आप के जीव को ऐसा भर देता है जैसा कभी भी नहीं भरा गया था, तो आप इसके लिये अधिकारी हैं। यह सत्य आप ही का है।

बहुत से लोग ज्ञानयोगी की परमेश्वर विषयिक भावना को सर्वेश्वर भावना समझते हैं, परन्तु यह सर्वेश्वर भावना से भी कहीं बढ़ कर है। सर्वेश्वर भावना यह शिक्षा देती है कि परमेश्वर उन सब वस्तुओं का योगफल है जो दृष्टि, स्पर्श, श्रवण, स्वादन और घ्राण में आता है। अर्थात् यह विश्व जैसा कि हम इसे जानते हैं, परमेश्वर है। ज्ञानयोग की यह बात अंशतः सत्य है। ज्ञानयोग की यह धारणा है कि वे सब वस्तुएँ जिनको हम जान सकते हैं वास्तविक विश्व का असंख्यवाँ भाग है, और इनको ईश्वर कहना एक रोम को सारा मनुष्य कहना है। ज्ञानयोग यह नहीं सिखाता कि विश्व ही परमेश्वर है, किन्तु यह सिखाता है कि परमेश्वर उस सब में प्रगट है जिसके अन्तर्गत हमारा विश्व है, और उससे भी करोड़ोंगुना अधिक है। उसकी यह प्रतिज्ञा है कि परमेश्वर की वास्तविक भावना मनुष्य की भावना के परे है, और वे सत्तायें भी जो मनुष्य की अपेक्षा जीवन के सोपान में उतना अधिक आगे बढ़ी हुई हैं जितना मनुष्य कीट पतँग की अपेक्षा अपने आगे बढ़ा हुआ है, परमेश्वर की प्रकृति की केवल धुँधली सी भावना रखती है। परन्तु उसकी यह भी प्रतिज्ञा है कि मनुष्य इतनी उन्नति कर सकता है कि वह ठीक ठीक जानले कि परमेश्वर सर्व जीवों में है। इस शिक्षा का स्थूल रूप से साराँश यह हो सकता है कि सारे प्रकट या अप्रकट, स्पृष्ट या अस्पृष्ट, दृष्ट या

अदृष्ट, ज्ञात या अज्ञात जीवों में वर्त्तमान है। आप देखेंगे कि यह भावना उससे बहुत ही भिन्न है कि परमेश्वर केवल ज्ञात और दृष्ट वस्तुओं का योगफल है। वैसे ही उस भावना से भी भिन्न है कि वह अपनी सृष्टि से परे की वस्तु है। ज्ञानी लोग सृजन नहीं कहा करते क्योंकि उनकी भावना है कि सब वस्तुएँ परमेश्वर अभिव्यक्त हैं।

जो शिष्य 'परमेश्वर' शब्द के साधारण व्यवहार का अभ्यस्त है उसे परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान की भावना का मानसिक अनुभव करना कुछ कठिन होगा। उसकी प्रवृत्ति होगी कि मन में परमेश्वर की नरत्वारोपिणी भावना करे अर्थात् परमेश्वर की भावना मनुष्य की भाँति करे कि उसमें भी मनुष्य की भाँति वृत्तियाँ, आदतें और विशेषतायें हैं। परमेश्वर की यह भावना मानव जाति की शिशुता की भावना है, और सब मजहबों के बड़े बड़े सोचनेवाले इस बालपन की भावना को पार कर गये। यद्यपि परमेश्वर में वे सब उच्च गुण होंगे जो कि परमेश्वर की नरत्वारोपिणी भावना में आरोपित किये जाते हैं, पर तौ भी उसे इस नरत्वारोपिणी भावना के इतना परे जाना होगा कि कोई विचार शील, जो सत्ता के उद्गम का उचित समादर करता है, नरत्वारोपिणी भावना को स्थिर नहीं रख सकता चाहे उसका कोई मजहब क्यों न हो।

ईश्वर शब्द के प्रयोग से जो भावना और कल्पना साधारण रीति से होती है, और सम्भव है कि हमारे अभिप्राय के समझने में कुछ भ्रम पड़े, इस विचार से हमने 'परमात्मा' शब्द का व्यवहार 'ईश्वर' शब्द के स्थान पर इस पाठ में

अधिक उचित समझा है। यह बात इस कारण से और भी अधिक अभीष्ट होती है कि ज्ञानयोग अधिकतर दर्शन है न कि मजहब, अधिकतर मन की उच्च शक्तियों का अध्ययन है न कि भक्ति का प्रत्यध्ययन या प्रतिपादन। जब हम भक्ति-योग के विषय पर आवेंगे, जिसमें परमेश्वर की उपासना का वर्णन है, और जो योगदर्शन का मजहबी पटल है, तब हम बिना किसी भ्रान्ति वा भय के ईश्वर या परमेश्वर शब्द का व्यवहार करेंगे। इसलिये जब हम इस पाठ में परमात्मा कहें तो यह न समझना चाहिये कि हम किसी नये ईश्वर को खड़ा करते हैं, किन्तु सत्ता के उद्गमस्थान के लिये साधारण शब्द को वर्त रहे हैं जो इतना विस्तृत है कि परमेश्वर विषयिक शिष्यों की सब भावनाओं के अनुकूल हो सकता है, उनका मजहब, विश्वास या शिक्षा चाहे कैसे ही क्यों न हों, और यह उन दार्शनिकों के भी अनुकूल होगा जो ईश्वर के स्थान पर आदि सत्ता समझना अधिक उपयुक्त ख्याल करते हैं।

ज्ञानयोग दर्शन इस कथन से प्रारम्भ होता है कि "परमात्मा है"। वह मानवी बुद्धि को इन बातों के समझाने का अभिमान नहीं करता कि कैसे, किस लिये और क्यों परमात्मा है। वह केवल इतना ही कहता है कि वह "है"। इस प्रश्न के उत्तर में कि बिना कारण के कैसे कोई वस्तु हो सकती है; वह उत्तर देता है कि कार्य-कारण की यह बुद्धि कारण की सापेक्ष भूमिका से सम्बन्ध रखती है, और परमात्मा स्वभावतः सापेक्ष भूमिका से परे है। हम देखते हैं कि हमारे चारो ओर की प्रत्येक वस्तु का कोई कारण है, और वह वस्तु स्वयम्

किसी भविष्य वस्तु का कारण है। वह प्रत्येक वस्तु जिसे हम देखते, सुनते और स्पर्श करते हैं, कार्य-कारण की शृंखला का एक अङ्ग है—अर्थात् इसके पूर्व कारण के कारण की शृंखला कहाँ तक चली गई है? और इसी प्रकार इसके कार्य की शृङ्खला कहाँ तक चली जायगी? दोनों दशाओं में उत्तर है 'परमात्मा तक'। हम कारण का कारण इतनी दूर तक ढूँढ़ते चले जाते हैं कि और आगे बढ़ना बुद्धि अस्वीकार कर देती है। इसी प्रकार हम कार्य के कार्य की शृङ्खला भविष्यों में इतनी दूर तक जोड़ते चले जाते हैं कि आगे बढ़ना कल्पना अस्वीकार कर देती है। इसका रहस्य यह है कि प्रत्येक बात परमात्मा ही से आरम्भ होती है और उसी में समाप्त हो जाती है। मानवी बुद्धि विना कारण के कार्य की स्पष्ट भावना नहीं कर सकती। क्योंकि बुद्धि सापेक्ष भूमिका में है। और अपेक्षा की इस भूमिका में प्रत्येक वस्तु का कारण होता है, और हम ऐसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते जो हमारे इन्द्रिय-जनित अनुभव के परे हो। इस लिये हम कारण रहित किसी वस्तु की भावना नहीं कर सकते। जो दार्शनिक लोग यह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु विना कारण के नहीं हो सकती, उन्हें दो बातों से काम पड़ता है जिनमें से एक को उन्हें स्वीकार ही करना होगा, और दोनों में से कोई एक भी उनकी युक्ति का खण्डन कर देता है। उन्हें स्वीकार ही करना पड़ेगा कि (१) एक आदि कारण अवश्य है, इस दशा में वे प्रश्न को कतिपय पद पीछे स्थापित कर देते हैं, और उन्हें स्वीकार ही करना पड़ेगा कि आदि कारण का कारण नहीं है. या नहीं तो उन्हें स्वीकार

करना पड़ेगा कि (२) कार्य—कारण की शृंखला अनन्त है। ऐसी दशा में भी उन्हें स्वीकार करना होगा कि अनादि वस्तु का कारण नहीं हो सकता। ऐसी दशा में कार्य-कारण का नियम अपूर्ण है। संक्षेप यह है कि मानवी बुद्धि इस प्रश्न के हल करने में असमर्थ है, और इस विषय में जितना ही अधिक वह यत्न करती है उतना ही यह विषय उलझता जाता है। यह बच्चे का पुराना प्रश्न है कि विश्व को किसने बनाया? जिस का यह उत्तर है कि ईश्वर ने। बच्चा फिर पूछता है कि तब ईश्वर को किसने बनाया? आप देखते हैं कि इस प्रश्न को केवल एक कदम पीछे हटा देना है। देहवादी को भी, जो कहता है कि हम ईश्वर में कुछ भी विश्वास नहीं करते, यह कहना ही पड़ता है कि द्रव्य सर्वदा से है, और वह यह नहीं समझा सकता कि द्रव्य का कारण क्यों नहीं होना चाहिये जब कि उसके सब व्यंजन कार्य कारण की शृंखला दिखलाते हैं। (देहवादी परमात्मा के आविष्कारों में से एक को खड़ा करके उसे द्रव्य कहता है और परमात्मा के दूसरे आविष्कार को जिसे मनुष्य प्रायः मन या बुद्धि कहते हैं अस्वीकार करता है।)

और इस लिये अन्त में बुद्धि इस बात को स्वीकार करने में विवश होती है कि ऐसी भी वस्तु है जिसका कारण नहीं है। अर्थात् उसे अपने को परास्त स्वीकार करना पड़ता है, और परास्त स्वीकार ही करना पड़ेगा क्योंकि वह सापेक्ष भूमिका से सम्बन्ध रखती है और 'परम' की भावना ही नहीं कर सकती।

ज्ञानी लोग परमात्मा को कारणहीन कारण कहते हैं और केवल इतना ही कहते हैं कि वह है। शिष्य को आगे बढ़ने के पहले परमात्मा की यथार्थता की भावना का ग्रहण करना होगा। उसे किसी गुण के आरोपण की आवश्यकता नहीं है और न उसको समझने ही की आवश्यकता है। चाहे उसका कोई नाम भी न रक्खे, परन्तु उसे स्वीकार करना होगा कि कोई वस्तु 'परम' है अवश्य, चाहे उसे ईश्वर, मन, द्रव्य, शक्ति, जीवन, या जो चाहिये कहिये। उसे 'परम' वस्तु को स्वीकार और उसकी भावना करनी ही होगी जिससे सब शेष बातें उत्पन्न होती हैं या जो शेष बातों में प्रगट होता है।

शिष्य के लिये दूसरा पद यह है कि इस बात का अनुभव करे कि जो कुछ दृष्ट या अदृष्ट है वह सब अवश्य उसी परम वस्तु की अभिव्यक्ति या निःसृति है। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं हो सकती जो 'परम' के बाहर हो अथवा उससे न निकली हो। बाहर उसके हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु अवश्य एक ही उद्‌गमस्थान से निकली होगी। यदि 'परम' किसी वस्तु को बनानेवाला होता तो वह निश्चय अपने ही में से बनाता, कम से कम हम लोगों की बुद्धि ऐसी ही भावना कर सकती है। दो 'परम' हो ही नहीं सकते। केवल एक ही के लिये स्थान है।

हम यहाँ पर एक छोटी कविता का अनुवाद देते हैं जिसके लेखक का नाम हमें ज्ञात नहीं। यह कविता बड़ी सरल भाषा में महत् सत्य द्योतन करती है।

"हे महत् नित्य अनन्त, महत् अपरिमित समस्त, आप

का शरीर तो विश्व है, आप का आत्मा जीव है। यदि आप समष्टि भरपूर हो रहे हैं, यदि आप सब में बसते हैं, यदि आप मेरे यहाँ होने के पहले यहाँ वर्तमान थे, तब हम यहाँ हैं ही नहीं। हम आप के बाहर रही कहाँ सकते हैं? क्या आप पृथ्वी और आकाश में भरपूर हो रहे हैं? तो सर्वत्र के बाहर मेरे लिये निश्चय कोई स्थान ही नहीं है। यदि आप ईश्वर हैं और अनन्त दिक् में भरपूर हो रहे हैं, तब मैं भी ईश्वर ही का हूँ, चाहे आप कुछ भी ख्याल करें, या हमारे लिये स्थान ही नहीं है। और यदि हमारे लिये कोई भी जगह नहीं है, या यदि हम यहाँ हैं ही नहीं, निर्वासित तो निश्चय करके हम हो नहीं सकते, क्योंकि तब तो हम कहीं रहें ही गे। तब मैं निश्चय ईश्वर का अंश हूँ, कितना ही छोटा क्यों न हो, और यदि मैं उसका अंश नहीं हूँ, तो ऐसा कोई ईश्वर ही नहीं है।

तीसरा पद शिष्य के लिये इस मानसिक भावना का अनुभव करना है कि 'परम' में तीन गुण निश्चय होने चाहिये (१) सर्व शक्तिमत्ता, (२) सर्वज्ञता और (३) सर्व व्यापकता। इस पर अन्ध विश्वास करने के लिये शिष्य से नहीं कहा जाता। वह परीक्षा कर ले।

(१) सर्वशक्तिमान का अर्थ सभी शक्तिवाला है। यह नहीं कि 'परम' किसी अन्य वस्तु या अन्य वस्तुओं के योग से अधिक शक्तिमान है, किन्तु यह कि वह सर्वशक्तिमान् सर्व सामर्थ्यवान् है। यह कि जितनी शक्तियाँ हैं उन सब शक्तियों-वाला वह है और इसलिये जितनी शक्तियाँ हमें विदित हैं

वें सब उसी परम की अभिव्यक्ति हैं। किसी अन्य शक्ति के लिये स्थान ही नहीं है। और जो शक्ति अभिव्यक्ति में आई है, सर्व प्रकार की, वह सब उसी परम की अभिव्यक्ति है। इस प्रश्न और उत्तर को छोड़ मत जाइये—इसका हल करना आवश्यक है। बहुत से लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। परन्तु इसका क्या अर्थ है, इसकी बहुत ही कम भावना लोगों को है। सर्वशक्ति के कथन से जो अनिवार्य अभिप्राय निकलता है उससे लोग मुँह फेर लेते हैं—अर्थात् इससे कि सर्वशक्ति ईश्वर ही की है। वे लोग ईश्वर में उन सब गुणों का तो आरोपण करेंगे जिन्हें वे सुखदायक समझते हैं, या जो उनके कल्याण के विधायक हैं, परन्तु जब कभी ऐसी शक्ति के प्रगट होने की बात आती है जिससे वे दुःख पाते हैं, या जिसे वे कठोर समझते हैं, तब उस शक्ति का आरोपण ईश्वर में करने से डर जाते हैं और या तो इस प्रश्न को भुला देते हैं या इस अनिष्ट वस्तु का आरोप किसी अन्य शक्ति में करते हैं—जैसे शैतान। इसका कारण यह है कि वे इसे समझते नहीं कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो विश्व में दूसरी शक्ति हो ही नहीं सकती, और सब भली या बुरी (सापेक्ष पद) शक्ति, जैसी वह जान पड़े अवश्य उसी उद्गमस्थान से उत्पन्न होगी। मनुष्य के साथ कठिनाई तो इस बात की है कि वह उन सब चीजों को जो उसके भौतिक सुख और भलाई के साधन हैं भला कहता है, और जो उनमें बाधा पहुँचाती हैं उन्हें बुरी कहता है। (अच्छी ऋतु वह है जो मनुष्य को सुखकर हो, और बुरी ऋतु वह है जो उसे असुखकर हो। यदि मनुष्य

शरीर से परे होता तो वह दोनों को सम समझता, क्योंकि दोनों में से एक भी उस पर असर न पहुँचा सकती।)

(२) सर्वव्यापक का अर्थ यह है कि एक ही समय में सर्वत्र वर्तमान हो। इसका यह अर्थ है कि परम सर्वदिक् में, जैसा हम जानते हैं, वर्तमान है, और विना हमलोगों की दिक् विषयिक सापेक्ष भावना के विचार के अन्यत्र भी सर्वत्र वर्तमान है। वह सर्वत्र है–उसके सम्मुख दिक् का अस्तित्व ही नहीं–वह अनन्त है। यहां एक और वस्तु है जिसको असहाय बुद्धि धारण ही नहीं कर सकती। बुद्धि अनन्त दिक् की उसी प्रकार भावना नहीं कर सकती जैसे वह कारणहीन कारण की भावना नहीं कर सकती। पर तोभी वेचारी बुद्धि दिक् के परे या दिक् के अन्त के परे किसी चीज की कल्पना भी नहीं कर सकती। वह दिक् को न तो अन्त सहित कल्पना कर सकती है न अन्त रहित। वैसे ही काल को न अन्त सहित कल्पना कर सकती है न अन्त रहित। परन्तु इन बातों को छोड़ कर अपने विषय पर आइये। यदि 'परम' सर्वव्यापक है (और उसका सर्वव्यापक न होना हम ख्याल ही नहीं कर सकते) तो वह सब काल में, सब स्थानों में, सब मनुष्यों में, सब परमाणुओं में, द्रव्य में, मानस में, आत्मा में वर्तमान होगा। यदि वह दिक् के एक विन्दु में भी अनुपस्थित होगा या दिक् के वाहर एक विन्दु में भी अनुपस्थित होगा तो वह सर्वव्यापक नहीं है और सारा वाद असत्य है, और यदि वह सर्वत्र वर्तमान है तो अन्य किसी वस्तु के रहने के लिये स्थान ही नहीं है। यदि यह ऐसा है तो प्रत्येक वस्तु उसी 'परम'

का अंश या उसकी निःसृति है। प्रत्येक वस्तु निश्चय प्रबल समस्त का अंश है। बहुत से मनुष्य झट कह उठते हैं कि परमेश्वर सर्वत्र हैं। ईसाइयों के देश में तो प्रत्येक बालक को यह सिखाया जाता है। परन्तु कितने लोग इसके अर्थ पर विचार करते हैं? वे नहीं जानते कि इसका अर्थ यह है कि ईश्वर नीच और उच्च सभी स्थानों में है, भले बुरे सभी स्थानों में है। वे नहीं जानते कि वे कह रहे हैं कि जब परमेश्वर सर्वत्र है तो वह सब वस्तुओं में है और सब वस्तुएँ उसी की आविष्कृति के अंग हैं। जिन शब्दों का वे योंही प्रयोग कर देते हैं उनका बड़ा गंभीर अर्थ है। हम शिष्यों से यह नहीं कहते कि वे सर्वव्यापकता के कथन को बिना परीक्षा किये स्वीकार करलें। विस्तार से वर्णन करने का यहां स्थान नहीं है, परन्तु अर्वाचीन विज्ञान इन युक्तियों से परिपूर्ण है कि द्रव्य केवल एक ही है और वही द्रव्य सर्वस्थान में व्याप रहा है। जैसे साइंस कहता है कि शक्ति एक ही है जो अनेक रूपों में प्रगट हो रही है। वैसे ही साइंस की यह धारणा है कि द्रव्य भी एक ही है जो नानारूपों में प्रगट हो रहा है। यह सत्य है कि साइन्स इस निष्कर्ष पर देहवाद के तर्क द्वारा पहुँचा है, परन्तु यह निष्कर्ष ज्ञानयोगियों के सिद्धान्तों से मिलता है, जिसे वे शताब्दियों से धारण किये चले आते हैं, और जिसे उन्होंने और भी आगे के गुरुओं की परम्परा से प्राप्त किया है। और प्राचीन पथावलम्बी मज़हब भी इसी बात को कहते हैं जब वे सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता आदि को कथन करते हैं, यद्यपि वे इसे जानते नहीं हैं।

(३) सर्वज्ञ का अर्थ सब कुछ का जाननेवाला है। इस का यह अर्थ है कि 'परम' को सब ज्ञान है। वह प्रत्येक वस्तु को जानता है। ऐसी कोई चीज ही नहीं है जिसको वह न जानता हो। वह उस सब ज्ञान की समष्टि है जो है, हो चुका है और होनेवाला है। यदि हम स्वीकार करें कि छोटी से छोटी ऐसी भी कोई वस्तु है जो परमात्मा को विदित नहीं है या नहीं हो सकती तब हम स्वीकार करते हैं कि सर्वज्ञता शब्द निरर्थक है। और यदि परमात्मा सर्व ज्ञान से युक्त है तो वह गलतियाँ नहीं कर सकता। उसे अपने मन को बदलने की आवश्यकता नहीं है। वह बुद्धिमत्ता के सिवाय अन्य रीति से न विचार ही कर सकता है न कार्य ही। इसलिये उसके सब कार्य न्याय विभिन्न और कुछ नहीं हो सकते। पर तो भी मनुष्य ऐसा सोचते प्रतीत होते हैं कि परमेश्वर गलतियाँ करता है, या वस्तुओं के विषय में सब बातें नहीं जानता और प्रायः वे प्रस्तुत हो जाते हैं कि परमात्मा के ध्यान को वहां आकर्षित करें जहां उसने ध्यान नहीं दिया है और गलतियाँ की हैं, और प्रार्थना करते हैं कि अब भविष्य में इससे बेहतर करना। उनको ऐसी भावना है कि हम परमेश्वर की चाटु-कारिता करके उसे मूर्ख बना सकते हैं। अरे, बेचारे बच्चो! शिष्य इस सर्वज्ञता के कथन का अनुभव कर सकता है यदि वह अपने चारो ओर देखे और थोड़ा विचार करे। यदि परमात्मा सर्व ज्ञान से युक्त नहीं है तो हम ज्ञान प्राप्त कहाँ से करते हैं? निश्चय परमात्मा के बाहर से ज्ञान नहीं प्राप्त करते। क्या अधिक सम्भावना यह नहीं है कि ज्ञान सर्वदा वहीं वर्त-

मान है, और हमारा ज्ञान प्राप्त करना केवल अपने मन को विकसाना है कि उस ज्ञान का ग्रहण करे अथवा वह दैवी ज्ञान हमारे मन पर लहरावे। जो कुछ हो परमात्मा को छोड़ कर अन्यत्र से ज्ञान की आशा करना निराशा मात्र है, क्योंकि तद्भिन्न और कुछ भी नहीं है।

ज्ञानी लोग सिखाते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। अर्थात् उसमें सर्व शक्ति है, सब ज्ञान है और वह सब स्थान में है, और वह प्रत्येक वस्तु में और सर्वत्र एक ही काल और सर्व काल में है।

वे सिखाते हैं कि परमात्मा अपनी पवित्र सत्ता में मनुष्य की बुद्धि द्वारा वर्तमान काल में अज्ञेय है, परन्तु वह तीन रूपों में प्रगट हो रहा है और वे तीनों रूप आजकल के मनुष्यों की बुद्धि द्वारा अनुभव और अध्ययन किये तथा कुछ कुछ समझे जा सकते हैं।

परमात्मा के वे तीनों रूप (१) द्रव्य (२) शक्ति या बल, और (३) बुद्धि या मन हैं। जिसे योगी आत्मा कहते हैं वह "परा अभिव्यक्ति" है और वह उपरिलिखित तीन रूपों में नहीं गिनाया गया है। कुछ लेखकों ने अत्यन्त उच्च विकसित मन को आत्मा बतलाया है, परन्तु वह इनसे भी अधिक है। वह परमात्मा का वह अंश है जो हमारी इन्द्रियों पर व्यक्त नहीं हुआ। इसलिये हम उन तीन व्यंजनों पर विचार करेंगे जो ऊपर दिये गये हैं।

शिष्य का ध्यान उस सम्बन्ध की ओर आकर्षित किया जाता है जो परमात्मा की तीन अभिव्यक्तियों द्रव्य, शक्ति

और बुद्धि तथा उसके तीन गुणों—सर्वव्यापकता, सर्व शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता में हैं। इस प्रकार (१) सर्वव्यापकता का गुण द्रव्य में प्रगट है, (२) सर्वशक्तिमत्ता का गुण शक्ति या बल में प्रगट है, और सर्वज्ञता का गुण उसकी बुद्धि या मन में प्रगट है। अर्थात् उपर्युक्त अभिव्यक्तियाँ उपर्युक्त प्रगट गुणों की अंश हैं, यद्यपि उच्च लोकों के व्यंजनों की अपेक्षा बहुत छोटे व्यंजन हैं पर तो भी हैं तो व्यंजन ही।

हमारे इस कथन का यह अभिप्राय मत समझ लीजिये कि परमात्मा का यह त्रिविध आविष्कार स्वयम् परमात्मा है—ये केवल अभिव्यक्तियाँ या निःसृतियाँ हैं। परमात्मा न तो मनुष्य से देखा न विचारा जा सकता है। मन को केवल उसके व्यंजन या व्यंजनों का सहारा लेना पड़ेगा कि कुछ विचार दौड़ा सके। जब हम परमात्मा को बोध रूप ख्याल करते हैं तब हम केवल उसके एक व्यंजन का ख्याल करते हैं। जब हम उसे शक्ति या बल रूप समझते हैं या कार्य करते समझते हैं तब हम केवल उसकी शक्ति रूप में प्रगट अभिव्यक्ति का ख्याल करते हैं। जब हम उसे सर्व स्थान में वर्तमान समझते हैं तब हम उसके द्रव्यरूप में बहुत ही सूक्ष्म आविष्कार का ख्याल करते हैं।

साधारण मजहबी मनुष्य परमेश्वर का द्रव्य और शक्ति में व्यक्त होना कठिन प्रतीत करेगा। वह परमेश्वर को इन वस्तुओं को रचता और व्यवहार करता हुआ ख्याल करता है, परन्तु इनमें वर्तमान है ऐसी भावना का वह मनुष्य अभ्यस्त नहीं है। ज्ञानयोग उसे परमेश्वर को चारो ओर

और सब पदार्थों में देखने में सहायता देगा। "पत्थर को उठाओ और तुम मुझे पाओगे, लकड़ी को चीरो और वहीं मैं वर्तमान हूं"।

और दूसरी ओर देहवादी परमात्मा के इन दो व्यंजनों के रूपों को स्वीकार करने में सरलता न पावेगा, क्योंकि इसमें ऐसा द्योतन होगा कि परमात्मा मजहबी मनुष्य के ईश्वर से कुछ कुछ मिलता जुलता हो जायगा जिसे देहवादी अस्वीकार करता आया है। परन्तु ज्ञानयोगी इन दोनों भाइयों को सत्य में एकत्र कर देता है और उनसे कहता है कि आप दोनों महाशय एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न दर्शनस्थानों से देखते रहे हैं। साइंटिस्ट (विज्ञानी) अस्वीकार कर सकता है कि मन या बुद्धि पृथक आविष्कृति है और कहता है कि यह द्रव्य ही का अनुषंगी है, ज्ञानयोगी प्रत्येक वस्तु में बुद्धि (ज्ञान) देखता है—धातु से लेकर मनुष्य पर्यन्त में—भिन्न भिन्न मात्राओं में। वह अनुभव करता है कि छोटे से छोटे देहाणु में भी अचेतन बुद्धि है, जिसके द्वारा वह ऐसा कार्य करता है, जो मनुष्य की बुद्धि के परे है। छोटी से छोटी जमनेवाली वस्तु भी अपने में कार्य करती हुई बड़ी बुद्धि को दिखलाती है और मनुष्य अपनी इतनी बड़ी बुद्धि को रखते हुए भी उसके कार्य को नहीं सँभाल सकता। घास की पत्ती के बढ़ने में ईश्वर या परमात्मा तीन रूपों में व्यक्त होता है अर्थात् द्रव्य, शक्ति और बुद्धि। वैज्ञानिक आसपास के द्रव्यों से बीज का तत्व संग्रह कर सकता है, उसका बीज बना सकता है, उसके लिये उचित उर्वरा मिट्टी और अवस्था उपस्थित कर सकता है, उसमें अपनी

जाती हुई सब शक्ति का प्रयोग कर सकता है, परन्तु पौधा जमेगा या बढ़ेगा नहीं। उसमें तीसरी अभिव्यक्ति बुद्धि की आवश्यकता होगी और इसे उपस्थित करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। प्रत्येक छोटे देहाणु में बुद्धि या मन होता है जो अचेतन रूप से कार्य करता है और पौधे को तैय्यार कर देता है। हमारी देह भी उसी प्रकार बनती है। प्रत्येक वस्तु में बुद्धि है और वह सब परमात्मा से निःसृत है।

क्या मनुष्य ख्याल करता है कि उसकी बुद्धि विश्व में आविष्कृत उच्च से उच्च चेतना का द्योतन करती है? व्यर्थ बात! वह अपने ही आसपास देखे और उद्देश्यों के अनुकूल साधनों की अनुरूपता पर अवधान दे जिससे वह समझे कि प्रकृति कैसे एक वस्तु का दूसरे से संयोग कराती है। मनुष्य अपनी बुद्धि से इन बातों को नहीं कर सकता और तो भी उसके उत्पन्न होने के युगों के पहले से ये बातें होती आती हैं। मनुष्य की बुद्धि से बढ़ कर बुद्धि कार्य में लगी हुई है, और सावधान शिष्य सर्वत्र इसके चिन्हों को लख सकता है। गेहूँ के दाने के अध्ययन से, चूहे की आँख की परीक्षा से, उसे सूझ पड़ेगा कि कैसा उद्देश्य और कैसी बुद्धि है! किसी संशयी को अवधान पूर्वक मधुमक्षिका के छत्ते को देखने दीजिये तो वह वैसा ही अनुभव करेगा जैसा हमारे एक परिचित ने किया था, जो मधुमक्षिका पालने के पहले वैसा ही संशयी था। परन्तु मधुमक्खी के छत्ते को देख कर प्रकृति के अद्भुत कार्य पर उसकी दृष्टि खुल गई। उसने कहा कि छत्ते पर मधुमक्खियों की क्रियाओं को देख कर मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न

हुआ कि "हे मेरे परमेश्वर, मैं आपके निकट तर हूँ"।

मनुष्य बुद्धि को बढ़ाता नहीं, वह उद्गमस्थान से ज्ञान और बुद्धि ग्रहण करने के लिये अपनी शक्ति बढ़ाता है। वह उतना ही धारण करता है जितना वह धारण कर सकता है। ईश्वर एक छटाँक के पात्र में एक सेर बुद्धि नहीं रखता। तीसरी कक्षा का मनुष्य सातवीं कक्षा की विद्या नहीं ग्रहण करता।

और इस अनुसृति पर ध्यान दीजिये। ज्यों ज्यों जीव उन्नत और विकसित होता है त्यों त्यों वह परमात्मा के तीनों गुणों में से अधिक अधिक भाग प्राप्त करने लगता है। वह अधिक जानने लगता है, अधिक शक्ति धारण करने लगता है, अधिक दिक और द्रव्य पर प्रभुता रखने लगता है। और ज्यों ज्यों जीव बढ़ता और विकसित होता है त्यों त्यों परमात्मा के तीनों गुण सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता उसको अधिक अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगती हैं।

हम परमात्मा की ओर अपने भावों के विषय में यहाँ कथन न करेंगे। इस पाठ में यह न बतलावेंगे कि ईश्वर की ओर हमारा क्या कर्त्तव्य है। यह विषय भक्तियोग के अन्तर्गत आता है और उसी पाठ में इसका वर्णन किया जायगा। इस पाठ में हमने ईश्वरीय ज्ञान के दार्शनिक पटल को कहा है, यह ज्ञानयोग है।

ठीक इसी जगह, हम अपने शिष्य को उस गलती से सावधान करते हैं जिसमें पूर्वीय दर्शनों के शिष्य बहुधा पड़ जाते हैं। यह गलती शिष्यों ही में नहीं, किन्तु आचार्यों

में भी पाई जाती है। हमारा अभिप्राय केन्द्र और उसके निस्सरण से है। मनुष्य ईश्वर का तो है पर ईश्वर नहीं है। वह परमेश्वर का निस्सरण है न कि स्वयम् ईश्वर है। वह अनन्त का सान्त व्यंजन है। वह बहुत से हिन्दुओं और पूर्वीय दर्शनों के पश्चिमीय जिज्ञासुओं को ऐसा कहते हुए सुनता है कि "मैं ईश्वर हूँ"। ये लोग सर्व के एकत्व की उस भावना से ऐसे अभिभूत हो जाते हैं, जो उनके ऊपर उछल पड़ी है—परमात्मा के साथ अपने घने सम्बन्ध की चेतना में इतना प्रवाहित हो जाते हैं कि ख्याल करते हैं कि हम ईश्वर की ममता में आ गये या हम ईश्वर हैं। इस शिक्षा से जो अनाभिज्ञ हैं वह ऐसे भक्तिशून्य अभिमान पर भड़क उठें तो आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि उसकी बुद्धि और भक्ति दोनों इस कथन से पीछे हटती हैं। सच्ची शिक्षा का यह भयंकर भ्रान्त और सूक्ष्म विकिप्य है, और हम अपने सब शिष्यों को इससे सावधान कर देते हैं, यद्यपि यह भ्रान्त शिक्षा कितने ही ऊँचे प्रमाण से क्यों न उत्पन्न हुई हो। उच्च हिन्दू आचार्य ऐसे विचार में गलती नहीं करते, परन्तु उनके अनुयायियों में से कुछ इस गलती में पड़ जाते हैं ....।

जीवन के ज्ञानयोग दर्शन का मूल अधार यह है:—

सब चेतन या अचेतन सत्ता उस परम सत्ता का निस्सरण है।

"निस्सरण" शब्द को स्मरण रखिये। यही इस प्रश्न की कुंजी है। निस्सरण का अर्थ निकास अर्थात् प्रवाह

अर्थात् किरण है। इस शब्द से ज्ञानियों की भावना का द्योतन होता है। ज्ञानियों की प्रिय उपमा सूर्य की है। सूर्य तो स्वयम् सूर्य है, केन्द्र है, किरणों का उद्गमस्थान है। ये ही किरणें प्रकाश और उष्णता के रूप में कतिपय अवस्थाओं में प्रकट होती हैं। ठीक ठीक कहा जाय तो सूर्य के बाहर कोई वस्तु भी सूर्य नहीं है, परन्तु उसकी लहरों, किरणों और कम्पों का प्रत्येक अंश सूर्य ही का निस्सरण है, मानो सूर्य ही का अंश है। सूर्य की प्रत्येक किरण जिसका हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं एक प्रकार वस्तुतः सूर्य ही है पर उद्गमस्थान नहीं है। इस भाव में किरण तो सूर्य है पर सूर्य किरण नहीं है। अब आप हमारे भाव को समझे ? एक प्रकार से (किरण या निस्सरण रूप में) मनुष्य ईश्वर हो सकता है पर निस्सन्देह ईश्वर मनुष्य नहीं है। मनुष्य और सत्ता का सर्व ईश्वर का तो है पर स्वयम् ईश्वर नहीं है हमारा विश्वास है कि शिष्य लोग बार बार इन शब्दों का मनन करेंगे जबतक विचार स्पष्ट न हो जाय, नहीं तो वे गलती के ऐसे दलदल में फँस जायेंगे जिससे निकलने में पीछे बड़ी कठिनाई पड़ेगी। बहुत से लोग इस दलदल में छटपटा रहे हैं और छटपटाते २ थक गये हैं।

कुछ लेखकों ने इस विचार को भौतिक शरीर की उपमा देकर समझाया है। वे जीवन के प्रत्येक व्यक्ति की उपमा शरीर के देहाणु से देते हैं जिसमें कुछ बुद्धि और प्रायः स्वतंत्र क्रिया रहती है। इन्हीं देहाणुओं से देहाणु समूह बनते हैं, (देखो हठयोग अध्याय १८) जिनमें शक्ति के केन्द्र हुआ

करते हैं, परन्तु सब देहाणु मस्तिष्करूपी स्वामी के आश्रित रहते हैं। मनुष्य का केन्द्रीय मन सब पर शासन करता है। ये लेखक परमात्मा को तो केन्द्रीय मन की उपमा देते हैं जो व्यक्तिगत देहाणुओं पर शासन, आज्ञापन और प्रभवन कर रहा है। यद्यपि यह उपमा अपूर्ण है तो भी ज्ञानियों की भावना से कुछ कुछ मिलती जुलती है इसलिये यहां दी गई है। इससे भी किसी किसी शिष्य को उचित भावना के समझने में सहायता मिल सकती है।

स्वीडनवर्ग व्यक्ति या वस्तु को वह रूप समझते हैं जिसमें से होकर विश्व धारा की भाँति बह रहा है। उसी विचार की यह दूसरी उपमा है।

जे० विलियम लायड साहब कहते हैं कि "जब हम किसी मनुष्य की अँगुली के नख को छूते हैं तो कहा जा सकता है कि हमने उस मनुष्य को छू लिया। परन्तु नख का छूना नाड़ी का छूना नहीं है। और नाड़ी का छूना मास्तिष्क का छूना नहीं है। रूप के अनुकूल भीतरी जीवन और ईश्वरता थोड़ी बहुत प्रगट होती है। जीवन और ज्ञान थोड़ा बहुत सर्वत्र है, पर मात्रा और विकास में वे सर्वत्र समान नहीं हैं। चेतना में अन्तर है। मनुष्य के देह ही में देखिये, मनुष्य तो एक ही है, परन्तु उसके शरीर में ऐसा एक भाग है, जहां चेतना, ज्ञान और आकांक्षा विशेष रूप से स्थापित है, और दूसरे भागों में उससे दूरी के कारण, उसके थोड़े बहुत असादृश्य के कारण भेद और अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार विश्व-पुरुष में कदाचित किसी स्थान में तो ईश्वर (ईश्वरीय पिता माता) एक भाव में है—चेतना, जीवन, ज्ञान, शक्ति पूर्ण

पवित्र अर्थात् साररूप में और दूसरे भागों में उससे दूरी और असादृश्य के कारण भेद और अन्तर पड़ जाता है।

हम इन उपमाओं और विचारों को इस अभिप्राय से यहां प्रगट करते हैं कि शिष्यों को एक ही मूल विचार के वे भिन्न भिन्न रूपान्तर विदित होजायें, जो अपने अपने लेखकों के मनन के रंग धारण किये हुये हैं। कोई शिष्य एक उपमा या एक रूप से अच्छा समझेगा और दूसरा दूसरी उपमा और दूसरे रूप से अच्छा समझेगा।

अपनी ओर से हम सूर्य की उपमा को अधिक पसन्द करते हैं (उसका केन्द्र और उसकी निःसृतियां अर्थात् किरणें: क्योंकि हमारा विश्वास है कि यह उपमा अन्य उपमाओं की अपेक्षा ज्ञानियों की धारणा से अधिक समता रखती है। परन्तु जिसी उपमा से शिष्य को भली भांति समझ में आजाय उसके लिये वही उपमा सर्वोत्तम है। एक हिन्दू गुरु ने एक बार अपने शिष्यों को एक गुलाब का फूल दिखलाया और उनके अवधान को इस बात की ओर आकर्षित किया कि इस फूल से सुगन्ध निकल रही है जो घ्राण के सम्बन्ध में आकर सुगन्ध का ज्ञान उत्पन्न कर रही है, परन्तु यद्यपि यह सुगन्ध गुलाब के फूल की है, उस फूल की एक अंश है, तौ भी वह सुगन्ध गुलाब का फूल नहीं है। उसकी है पर वह वही नहीं है।

हम समझते हैं कि हमने ज्ञानयोग के एक पटल का केवल दिग्दर्शन मात्र किया है। हमारा अगला पाठ भक्तियोग—ईश्वर के साथ प्रेम का योग—होगा। यह ऐसा विषय है कि स्वभावतः ज्ञानयोग पर इसी का आना अच्छा है। यह इस

बात को बतलावेगा कि मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध क्या है ? यह यह भी बतलावेगा कि ईश्वर ही में मनुष्य जीता, चलता और अपनी सत्ता धारण किये है। यह पाठ कल्पित श्रद्धा विश्वास का व्याख्यान न होगा, यद्यपि भक्तियोग का लगाव इतना बुद्धि से नहीं है जितना भाव से है। परन्तु वह बुद्धि या तर्क के प्रतिकूल नहीं किन्तु अनुकूल है। योगदर्शन मनुष्य को सब भूखों के अनुकूल होता है, कोई भाग किसी पर अधिक प्रभाव डालता है कोई दूसरे पर। परन्तु सभी भाग अच्छे और आवश्यक हैं। इसलिये किसी भाग को मत भूलिये केवल इसीलिये कि अन्य भाग आप पर अधिक प्रभाव रखता है। आपको प्रत्येक में से कुछ लाभ प्राप्त होगा।

अब अन्त में हम आपके अवधान को इस बात की ओर आकर्षित करते हैं कि विश्व मृत पदार्थ नहीं है—वह जीवित है, वह जीवन, शक्ति और ज्ञान से भरपूर हो धक धक कर रहा है। वह जीवित पदार्थ है, और आप उस सब के अंश हैं ? आप परमात्मा नहीं हैं परन्तु आप उसकी किरणों में से एक का अंश हैं—उसकी जीवन शक्ति आप में होकर खेल रही है। आप केन्द्र के साथ लगाव रखते हैं, और वह केन्द्र आप और आपके साथ सम्बन्ध से सचेतन है। यद्यपि आप एक अणु हैं पर आप सर्व के लिये आवश्यक है। आप उसका अंश हैं। न तो कोई वस्तु आप की हानि कर सकती है, न आप का नाश कर सकती है। आप परमेश्वर के साथ एकता की चेतना में जग रहे हैं। केवल बुद्धि ही द्वारा ज्ञान नहीं, किन्तु यथार्थ, असली, साक्षात् ज्ञान। आपके साथ शान्ति विराजे।

भक्तियोग।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

—श्रीकृष्ण भगवान्।

जैसा हम पहले पाठों में कह आए हैं, योगदर्शन कई शाखाओं या रूपों में विभक्त है, जिसमें से प्रत्येक किसी न किसी श्रेणी के शिष्यों के अनुकूल है। तो भी प्रत्येक मार्ग एक ही निर्दिष्ट अर्थात् विकास, पुष्टि और वृद्धि को पहुँचाता है। जो मनुष्य शक्ति या आकांक्षा द्वारा अथवा मन के उन आवरणों पर प्रेरणा द्वारा वृद्धि किया चाहता है, जो उस आपे को आवृत किये हुए हैं, वह राजयोग की ओर आकर्षित होगा। अन्य मनुष्य जो ज्ञान द्वारा अर्थात् विश्व की पहेली के अध्ययन द्वारा और जीवन के अन्तर्गत व्याप्त तत्वों के बोध द्वारा उन्नति किया चाहता है, वह ज्ञानयोग की ओर झुकता है। तीसरा मनुष्य जिसकी धार्मिक वृत्ति बहुत बढ़ी हुई है, वह परमात्मा से एकता को भक्ति द्वारा प्राप्त करना पसन्द करता है। ऐसे ही मनुष्य को भक्तियोग का अनुयायी कहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कोई मनुष्य उत्साही राजयोगी या विद्वान ज्ञानयोगी होते हुए भी परमात्मा के ऐसे प्रेम और उस की ऐसी भक्ति से परिपूर्ण हो सकता है जिससे वह बड़ा

भक्तियोगी हो जाय। सच तो यह है कि जो मनुष्य योग की किसी शाखा का अध्ययन करता है वह भक्तियोगी न हो यह बात हमारे ख्याल ही में नहीं आ सकती। परमेश्वर का जानना उससे प्रेम करना है, और जितना ही अधिक उसके विषय में हम जानेंगे उतना ही हमारा प्रेम भी उसकी ओर बढ़ता जायगा। वैसे ही अपने को जानना भी परमेश्वर से प्रेम करना है, क्योंकि इससे हमें उसके साथ अपने सम्बन्ध की समझ होती है। जितना ही अधिक हम अपना विकास करते हैं उतना ही अधिक परमात्मा के प्रति भक्ति से भरते जाते हैं।

भक्तियोग मानव हृदय की उस भूख को बुझाता है जो परमात्मा के प्रेम की या उसकी भक्ति के लिये धार्मिक वृत्ति या उपासना वृत्ति के रूप में प्रगट होती है। सब मनुष्यों में यह वृत्ति भिन्न २ रूपों में प्रगट है। यहाँतक कि वे लोग भी जो अपने को स्वतन्त्र विचारवाले या अज्ञेयवादी कहते हैं या ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, और जो देह-वादियों की बुद्धि सम्बन्धी भावनाएं धारण करते हैं, इस वृत्ति की प्रेरणा का अनुभव करते हैं और उसे प्रकृति, कला या संगीत आदि के प्रेम में प्रगट करते हैं। परन्तु वे नहीं जानते कि ऐसा करने में भी वे उसी परमेश्वर के किसी न किसी व्यंजन के साथ प्रेम कर रहे हैं जिसे वे अस्वीकार करते हैं।

परन्तु जब हम कहते हैं, कि भक्तियोग परमेश्वर के प्रेम का विज्ञान है, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि यह उन लोगों को, जो ईश्वर की किसी एक भावना के साथ भक्ति और

उसकी उपासना करते हैं, अन्य लोगों से पृथक् करता है जो दूसरी भावना की भक्ति या उपासना करते हैं । इसके विपरीत भक्तियोगी समझता है कि परमेश्वर की किसी भावना की भक्ति या उपासना भक्तियोग का एक रूप है। भक्तियोगी के सम्मुख सब मनुष्य परमात्मा के उपासक हैं। जङ्गली असभ्य मनुष्य, ईश्वर विषयिक अनगढ़ और अन्य भावना रखते हुए भी भक्तियोगी की दृष्टि में परमेश्वर की उस उच्चतम भावना की भक्ति और उपासना कर रहा है जो उसकी अविकसित दशा में सम्भव है, और वह अपने यथासाध्य सर्वोत्तम ज्ञान कर रहा है । इसलिये भक्तियोगी उस जङ्गली असभ्य को भी अपना भाई भक्तियोगी समझता है जो अभी ज्ञान की प्रारम्भिक श्रेणियों में है । वह उस जङ्गली मनुष्य के मन को समझ रखता है, उससे सहानुभूति करता है और उसका प्रेम उस तुच्छ भाई के प्रति भी उमँग पड़ता है । वह उसे म्लेच्छ काफ़िर इत्यादि घृणा-सूचक नामों से नहीं पुकारता । आप झट समझ सकते हैं कि भक्तियोगियों में कोई विभाग नहीं है। मत मतान्तर या सम्प्रदाय का भाव नहीं है, क्योंकि वे समझते हैं कि सारी मानवजाति उनकी मंडली में समझी जासकती है और वे सब के लिये मित्रता का दहिना हाथ फैलाने के लिये उद्यत हैं ।

परमात्मा अविकारी है। जैसा कल्ह था वैसा ही आज है और वैसा ही कल्ह रहेगा । परन्तु मनुष्य की परमात्मा के विषय की भावना ज्यों ज्यों मनुष्य विकास की प्रगति में उन्नति करता है त्यों त्यों सर्वदा परिवर्तित हुआ करती है । मनुष्य का

ईश्वर सर्वदा उसकी अपेक्षा कुछ बढ़कर हुआ करता है। कुछ लोगों ने तो यह कहा है कि मनुष्य का ईश्वर वैसा है जैसा वही मनुष्य अपनी सर्वोत्तम अवस्था में रहता। और ऐसा कहने में लोगों ने बड़ी चतुराई का व्यवहार किया है। हज़रत दाऊद और हज़रत मूसा के ईश्वर की अपेक्षा हज़रत ईसा का ईश्वर भिन्न है। ईसाई मत का आज का ईश्वर पचास वर्ष पहले के ईश्वर से भिन्न है। परन्तु तो भी वस्तुतः ईश्वर तो वही है, कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन उन मनुष्यों के मन में हुआ जो ईसाई धर्म में हैं। ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नति करता है त्यों त्यों वह परमेश्वर में उच्चातिउच्च गुणों को देखता है। और चूंकि वह परमेश्वर की भावना में उच्च से उच्च और उत्तम से उत्तम की उपासना करता है इसलिये कल की नीच भावना के स्थान में आज की उच्च भावना स्थापित कर देता है। कल्ह और भी उच्च भावनाएँ समझ में आवेंगी, और कल्ह का ईश्वर आज के ईश्वर की अपेक्षा और भी उच्च हो जावेगा। तो भी ईश्वर में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है और न होगा, परन्तु मनुष्य ने तद्विषयिक अपनी भावना को बदल दिया है और आगे और भी बदलेगा।

मूर्ख जंगली ऐसे ईश्वर में विश्वास रखता है जो हमें शैतान सा प्रतीत होता है। परन्तु वह ईश्वर उस मनुष्य के अनुकूल है। उससे थोड़ा बढ़ कर है। वह जंगली मनुष्य उस ईश्वर की द्योतक एक भयंकर मूर्त्ति गढ़ लेता है। उसी के सम्मुख साष्टांग दण्डवत करता और उसी की उपासना करता है। कभी बलिदान करता है, कभी उसकी

वेदी पर मनुष्य का रुधिर चढ़ाता है, और यह कल्पना करता है कि मेरी ही भांति मेरा ईश्वर भी अपने शत्रुओं के रुधिर से प्रसन्न होता है। उस जंगली मनुष्य के शत्रु उसके ईश्वर के भी शत्रु होते हैं। यह कल्पना मनुष्य के साथ बहुत दिनोंतक बनी रहती है, जिसे हम अपने ही देश में इधर उधर दृष्टि फैला कर देख सकते हैं। कुछ काल के बाद वह जंगली या उसके वंशज जब ज्ञान और समझ में उन्नति करते हैं तब अपने पूर्वपुरुषों के ईश्वर के स्थान पर ऐसा ईश्वर स्थापित करते हैं जो ईश्वर विषयिक उनकी उस उच्च भावना के अनुकूल होता है जो ज्ञान और विकास की वृद्धि द्वारा प्राप्त हुई है। यह उन्नति चाहे बहुत ही थोड़ी हो, परन्तु यह सच्चे मार्ग में चलती है, और यह नया ईश्वर पहले ईश्वर की अपेक्षा थोड़ा अच्छा, थोड़ा दयालु, थोड़ा अधिक कृपालु होता है। और इसी प्रकार थोड़ा थोड़ा करके मानव जाति ईश्वर की उच्च और उच्च भावनाओं को ग्रहण करती जाती है। प्रत्येक पद में पुरानी भावना कुछ न कुछ छुटती और नई उत्तमतर भावना कुछ न कुछ ग्रहण में आती जाती है। परन्तु ईश्वर तो वही रहता है, यद्यपि उसकी उच्च और उच्च भावनाएँ मनुष्यों के मनों में आती जाती हैं।

बहुत ही कम उन्नति की हुई जातियां एक ईश्वर की भावना नहीं कर सकती। वे उसे अनेक देवताओं के रूप में देखती हैं, जिनमें से प्रत्येक देवता उस एक परमेश्वर के किसी एक गुण का द्योतन करता है—जीवन का एक पटल दिखलाता है। और मनुष्य के भाव, वृत्ति या विचार के एक रूप का

प्रतिनिधान करता है। उनके युद्ध, शान्ति, प्रेम, खेती, व्यापार आदि के पृथक् पृथक् देवता हुआ करते हैं। वे इन अनेक देवताओं की पूजा और आराधना करते हैं। वे यह नहीं जानते कि उस धार्मिक वृत्ति का अनुसरण इन सब देवताओं के प्रति कर रहे हैं जो समय पाकर एक दिन मानव जाति को उस एक की उपासना में लगा देगी जिसे परमात्मा कहते हैं। वे अपने देवताओं में मानव गुणों का अध्यारोप करते हैं। (इस दशा में भी जब अनेक को छोड़ कर एक की उपासना में लग जाते हैं)। वे कल्पना करते कि ईश्वर मानव जाति को मित्र और शत्रु दो दलों में बांट देता है और मित्रों को पुरस्कार तथा शत्रुओं को दण्ड देता है। वे अपने परमेश्वर से वैसा ही कराते हैं जैसा वे स्वयं करते यदि उन्हें पुरस्कार और दण्ड देने का अधिकार होता। वे कल्पना करते हैं कि हम ईश्वर के प्यारे और विशेष कृपापात्र हैं, और ईश्वर हमारे साथ युद्धों में जाता है और शत्रुओं पर विजयी होने में हमें सहायता देता है। वे कल्पना करते हैं कि ईश्वर मनुष्य के रुधिर से प्रसन्न होता है और हमें आज्ञा देता है कि अपने शत्रुओं को मार डालें, यहां तक कि स्त्री और बच्चों को भी जीता न छोड़ें, गर्भ चीर कर गर्भस्थ पिण्ड का भी नाश कर डालें। उनका ईश्वर खूनी और जंगली ईश्वर है, क्योंकि वे स्वयम् खूनी और जंगली हैं। तौ भी परमात्मा विना परिवर्तन के एकरस रहता है, और ये लोग यथासाध्य सर्वोत्तम रीति से उसकी उपासना करते हैं, और अपनी जाति या काल के अनुसार उसका नाम रखते हैं। इन लोगों के शत्रु भी वैसे

हीं परमेश्वर विषयिक अपनी भावना की पूजा करते हैं, और अपने रक्खे हुए नाम से उसे पुकारते हैं, और कल्पना करते हैं कि वह हमें अपने शत्रुओं और उनके झूठे ईश्वर से लड़ने में सहायता देता है। ये दोनों ईश्वर दो योद्धा जातियों के मन की करतूत हैं। दोनों की सृष्टि विकसती हुई धार्मिक वृत्ति के आज्ञापालन से होती है।

हम लोग ऐसी कथाओं और विचारों पर काँप उठते हैं। परन्तु जंगलियों की इस भावना से हम लोग क्या सचमुच बहुत ऊँचे उन्नति कर गये हैं? आजकल के युद्धों में भी हम दोनों सभ्य कहानेवाले दलों को शत्रु पर विजय के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करते पाते हैं। प्रत्येक कल्पना करता है कि परमेश्वर हमारे ही पक्ष पर है। वे यह नहीं समझते कि हम दोनों तो एक ही परमेश्वर की उपासना भिन्न नामों से करते हैं और यह सच्चा परमेश्वर दोनों पर समान प्रेम रखता है।········तो भी परमेश्वर नहीं बदला है, केवल मनुष्य की तद्विषयिक भावना बदल गई है।

मनुष्यों ने दूसरों को पीड़ा दी है, क्योंकि वे ईश्वर के विषय में पीड़कों से भिन्न भावना रखते थे। और जब पीड़ितों के हाथ में अधिकार आया तो इन लोगों ने और तीसरे मनुष्यों को पीड़ा दी जो ईश्वर के विषय में इनसे भिन्न भावना रखते थे। प्रत्येक ने यही ख्याल किया कि हम पीड़ा देने में ईश्वर की मर्जी को पालन कर रहे हैं और पीड़ितों ने समझा कि हम अपने ईश्वर के पक्ष में पीड़ा पा रहे हैं।··········

ये बातें उन लोगों को लड़कपन की सी प्रतीत होती हैं, जिनका ज्ञान बढ़ा हुआ है और जो सब मनुष्यों को ईश्वर के ऐसे बच्चे समझते हैं, जो अपने यथासम्भव ईश्वर की आराधना करते और यथाबोध ईश्वर की भावना रखते हैं। तो भी इस संकीर्णता और अन्धता का दोषी कोई नहीं है। ये भी तो अपने यथासाध्य अच्छा ही कर रहे हैं। सभी ईश्वर की आराधना कर रहे हैं—एक ईश्वर की, सच्चे ईश्वर की, केवल ईश्वर की, परमात्मा की। ये सब लोग ऐसी बात धार्मिक प्रवृत्ति की उस प्रेरणा के कारण करते हैं जो उनके विकास और वृद्धि के लिये हो रही है। ये सब लोग भक्तियोग के अनुयायी हैं, (यद्यपि केवल प्रारम्भिक रूप में) यद्यपि वे इस बात को जानते नहीं हैं। वे समझते हैं कि हम लोग भिन्न ईश्वरीय भावना का आराधन कर रहे हैं, भिन्न भिन्न ईश्वर को पूज रहे हैं, पर वस्तुतः वे भिन्न भिन्न ईश्वर की उपासना नहीं कर रहे हैं, वे सब एक ही ईश्वर, परमात्मा को पूज रहे हैं जो एकमात्र सत्य है। मन के भिन्न ऐनकों द्वारा देखने से परमात्मा भिन्न भिन्न और विचित्र रूपों में दिखाई देता है, परन्तु तो भी सत्यपुरुष, एक, नित्य, परमात्मा अविकारी ही रहता है।

पूजा की रीति कैसी ही भद्दी और अनगढ़ क्यों न हो, वह सब उसी एक को पहुँचती है। चाहे दृश्य मूर्ति, लाठी, पत्थर, प्रतिमा, वृक्ष, सर्प या मनुष्य की आन्तरिक श्रद्धा और विश्वास का बाह्य द्योतनाधार अन्य कोई वस्तु हो, परन्तु उसके द्वारा पूजा उसी एक, अविकारी, नित्य, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक की होती है। और जो मनुष्य ईश्वर सम्बन्धी

अपनी उच्च से उच्च भावना की उपासना करता है, वह अच्छा करता है। अपने ज्ञान भर वह उत्तम से उत्तम करता है और उतना ही आदर का पात्र है जितना उसका वह दूसरा भाई है जो अपनी भावना के अनुसार आराधना करता है। जंगली और सभ्य-उन्नत दोनों प्रकार के मनुष्यों की भावनायें वर्ष प्रतिवर्ष उच्चतर और अच्छी होती जाएँगी और दोनों का मन इस प्रकार विकसित होता है जिससे आध्यात्मिक ज्ञान उसमें प्रवाहित हो आता है। हमें अपने छोटे भाइयों को अच्छी बातों तक ले जाना चाहिये, यदि हम ऐसा कर सकें और वे ऐसी शिक्षा के ग्रहण का सामर्थ्य रखते हों। परन्तु हमें उनकी निन्दा न करनी चाहिये क्योंकि वे हमारे भाई हैं—ईश्वर के बच्चे हैं—सब लोग उसी पथ पर हैं जिस पर हम हैं। हम सब लोग वृद्धि की भिन्न भिन्न श्रेणियों में बच्चे हैं। प्रत्येक उस कार्य को कर रहा है जिसकी उसका समय प्रेरणा करता है। प्रत्येक उस समझ को धारण किये है जो समय के अनुकूल है। प्रत्येक यथासाध्य उत्तम से उत्तम बात और यथासम्भव उत्तम से उत्तम रीति से कर रहा है। हमें निन्दा करना तुच्छ समझना, या घृणा करना न चाहिये, किन्तु हमें अपने प्रेम को सब भाइयों की ओर प्रवाहित करना चाहिये, यद्यपि वे आध्यात्मिक ज्ञान में निरे बच्चे ही क्यों न हों। यह अनेक पटलों में से एक पटल में भक्तियोग है।

भक्तियोग दो बड़ी शाखाओं या श्रेणियों में विभक्त है। पहली गौणी भक्ति है और दूसरी जो उच्चतर होती है उसे पराभक्ति कहते हैं। पहली गौणीभक्ति प्रारम्भिक कक्षा है

और इसमें परमेश्वर की मानुष-भावना करके ईश्वर-प्रेम का विज्ञान प्राप्त किया जाता है। दूसरी जो उच्च कक्षा की है और जिसे पराभक्ति कहते हैं उसमें अमानुष-ईश्वर अर्थात् परमात्मा की उपासना होती है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों दशाओं में उसी एक परमेश्वर की उपासना या पूजा होती है, परन्तु गौणी भक्ति के अनुयायी की मानसिक भावना अमानुष परमेश्वर की नहीं हो सकती, और वह अपने पूर्ण सामर्थ्य भर यत्न करते हुए भी मानुष-ईश्वर की ही कल्पना कर सकता है। इन दोनों कक्षाओं के अन्तर्गत अनेक छोटी छोटी कक्षाएँ हैं जिनमें परमेश्वर विषयिक भावनाएँ उपासक के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के अनुसार हुआ करती हैं। हम इस विषय पर संक्षेप से विचार करेंगे जिससे शिष्य भक्तियोग की दो बड़ी कक्षाओं के अन्तर को समझ जाय, और साथ ही यह भी जान जाय कि दोनों भावनाएँ एक ही भाँडार की हैं और भेद केवल मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति में है।

आदिम मनुष्य धार्मिक प्रवृत्ति की प्रेरणा अनुभव करके परन्तु इस विषय में स्पष्ट विचार न करने के कारण अपनी उपासना वृत्ति को अनगढ़ प्रतिमाओं में स्थान देता है। वह लकड़ी, पत्थर, विजली, सूर्य, चन्द्रमा, तारों, पवन और अन्य प्राकृतिक पदार्थों की पूजा करने लगता है। थोड़ा आगे चल कर मनुष्य जाति अनुभव करने लगती है कि परमेश्वर किसी प्रकार का मनुष्य है—एक बड़ा मनुष्य है जो कहीं विशेष स्थान में रहता है, स्वयम् अदृष्ट है पर सब को देख

रहा है। जंगली मनुष्य का मन ईश्वर के विषय में वैसी ही भावना धारण करता है जैसा वह स्वयम् है। भेद केवल इतना ही है कि ईश्वर को बहुत बड़ा और अधिक बलवान मानता है। जंगली आदमी स्वयम् क्रूरकर्मा होने के कारण परमेश्वर को भी क्रूरकर्मा ही कल्पना कर सकता है। यदि वह काला मनुष्य है तो उसका ईश्वर भी वैसा ही काला है। यदि वह मंगोलियन है तो उसके ईश्वर की भी आंखें कुछ तिरछी हैं, और कदाचित उसके भी सिर पर शिखा है। यदि वह अमेरिकन-इंडियन है तो उसका ईश्वर लाल, अपना चेहरा रँगे हुये, पांखें पहने हुये और तीर धनुप लिये हुए है। यदि वह अशिक्षित हिन्दू है तो उसका परमेश्वर बैल या हाथी पर सवार और प्रायः नंगे बदन है। इसी प्रकार प्रत्येक जाति का ईश्वर उसी जाति की विशेपताओंवाला होता है। प्रत्येक जाति धार्मिक प्रवृत्ति का अनुभव करती है, और मानुप-ईश्वर की भावना रखती है, और मानुप-परमेश्वर की प्रत्येक भावना वैसी ही होती है जैसा उस भावना का रचयिता होता है। इन रचित ईश्वरों में से प्रत्येक उन्हीं मनुष्यों और वस्तुओं को चाहता और घृणा करता है जिन्हें उनका रचयिता चाहता और घृणा करता है। इन ईश्वरों में से प्रत्येक उसी देश का बड़ा प्रेमी है जिस देश का वह ईश्वर है, और अन्य देशों तथा जातियों से वह घृणा करता है।

इन रचित देवताओं को बहुधा विचित्र रूप और आकृतियां दी जाती हैं। किसी को दर्जनों भुजाएँ होती हैं, किसी को कई सिर होते हैं। वे उसी काल के शस्त्रों को धारण करते

हैं जिस काल के होते हैं। कोई मृगया खेलते हैं, कोई युद्ध करते हैं। वे क्रोध, ईर्षा, द्वेष और मत्सर आदि करते कल्पना किए जाते हैं, और प्रायः उनका चित्त बदला करता है। वे बदला लेनेवाले और और नीच विकास के मनुष्यों के गुणवाले होते हैं। क्यों न हों? जो मनुष्य इनकी कल्पना करते हैं वे अपने से बहुत उन्नत ईश्वर की कल्पना ही नहीं कर सकते। ये ईश्वर खुशामद और बलिदान पसन्द करते हैं और इनके अनुयायी बहुत से पुरोहित और अन्य लोग इनकी स्तुति और इनकी वन्दना करने को होते हैं। पुरोहितों का भरणपोषण साधारण मनुष्य किया करते हैं क्योंकि वे इसे दैवी आज्ञा समझते हैं। ईश्वर इन पुरोहितों की बहुत सुनता है। ये पुरोहित ईश्वर की कृपाओं का वितरण भी करते हैं। वे सब इस बात को अपना समझते हैं कि अपने ईश्वर का स्तोत्र-पाठ गावें, उसकी शक्तियों का घमण्ड करें और यह प्रतिपादन करें कि हमारा ईश्वर अन्य जातियों के ईश्वर का दमन कर सकता है। ये ईश्वर अपने आराधकों का भूमि में लोटना और जोर जोर से अपनी दीनता घोषित करना वैसे ही अधिक पसन्द करते हैं, जैसे उस काल के राजा लोग पसन्द करते हैं। उनकी खुशामद करने और उन्हें घूस देने से वे खास मिहर्बानियाँ करते हैं, और यदि पूजाएँ या पीड़ाएँ खूब काफी न हुई तो वे मनुष्यों पर भयंकर विपत्तियाँ भेजते हैं, जिससे वे समुचित पूजा चढ़ावें और बलिदान के लिये खूब चीज़ें जुटावें। वे ईश्वर जलते हुये माँस के गन्ध से प्रसन्न होते हैं। ये धूप और गन्ध को भी पसन्द करते हैं। कभी कभी वे मनुष्य-बलि भी

चाहते हैं। वे अपने उच्च पुजारी द्वारा भविष्यद्वाणियाँ करते हैं और जो मनुष्य इन वाणियों में संशय करे फिर उसकी भलाई कहाँ। बहुत से पुजारी तो सच्चे और निष्कपट होते हैं, पर अधिकांश ऐसे नहीं होते और विश्वासी आदमियों को अपने भरण, पोषण और विलास के लिये दुहा करते हैं। स्वर्गों और नरकों की भी रचना की गई है। स्वर्ग द्वारा तो मनुष्यों को ऐसा प्रलोभन दिया जाता है कि जिससे वे पुजारियों की बातों को मानें, और नरक द्वारा उनमें उसी अभिप्राय से भय उत्पन्न किया जाता है। मन्दिर बनाये जाते हैं और कुछ स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक पवित्र माने जाते हैं जिन पर ईश्वर की विशेष कृपा समझी जाती है। मन्दिर में न उपस्थित होना भारी पाप है और ऐसे आलसियों को ईश्वर खूब दण्ड देता है। मनुष्यों को डराने के लिये भयंकर शैतानों की कल्पना की जाती है जिनके ऊपर दुःखों की उत्पत्ति मढ़ दी जाती है। किसी किसी के ईश्वर भी इन शैतानों से थोड़े ही बढ़ कर होते हैं।

प्रायः सभी मनुष्य अपने ईश्वर की प्रतिमा बनाते हैं। और उस जाति के अज्ञ लोग उस प्रतिमा और मानुष-ईश्वर में बहुत ही कम भेद मानते हैं। प्रतिमा ही उनके सम्मुख सत्य है और जिस ईश्वर की वह प्रतिमा है उसका बहुत ही कम बोध मनुष्यों को होता है।

हम इन बातों का उल्लेख कठिन आलोचना या उपहास की दृष्टि से नहीं कर रहे हैं। इस लेख में ऐसी भावनाओं का एक अणु भी हमें प्रेरणा नहीं कर रहा है।

हम इन बातों को इस लिये प्रकट कर रहे हैं कि हमारे शिष्य समझ जायँ कि ईश्वर की खोज में मनुष्य जातियों को कैसे कैसे विषम पथ पार करने पड़े हैं। परमेश्वर के विषय में कैसी ही अनगढ़ भावना और कैसी ही क्रूर पूजा की रीति क्यों न हो, पर प्रत्येक ईश्वर के मिलाप पथ में वह एक चरण है और उसे अवश्य ऐसा ही समझना चाहिये। मनुष्य ने धार्मिक मूर्खता के आवरण पर आवरण त्याग किये हैं, और प्रत्येक आवरण के हटने से कुछ अच्छा ही रूप होता गया है। यह प्रक्रिया अब भी प्रचरित है और आगे भी रहेगी। हम पुराने रूपों से निकल कर नये और अच्छे रूप धारण करते जाते हैं। यह प्रक्रिया विकास का अंग है।

देहवादी लोग इन्हीं बातों को दर्शा कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सब मजहब झूठे हैं, क्योंकि भूतकाल का इतिहास पुरानी भावनाओं को युग पर युग असत्य दिखलाता आया है। परन्तु वह स्वयम नहीं देखता कि उसी की भावनायें प्रकृति और द्रव्य विषयिक वैसी ही विकासपथ में चरण कर रही हैं और उसकी वर्तमान स्थिति भी सोपान में एक पग मात्र उसी प्रकार है जैसे परमेश्वर विषयिक वे भावनायें हैं जिन पर वह कटाक्ष करता है। वह भी वन्य मनुष्य और उसकी सन्तानों की भांति ईश्वर को ढूँढ़ रहा है पर वह समझता नहीं।

मजहबों के अध्ययन करनेवाले समझेंगे कि ईश्वर विषयिक मनुष्य की भावना प्रतिवर्ष वृद्धि, विस्तार, महत्व और उदारता को प्राप्त होती जाती है। पिछले २० वर्षों में इस विषय में बड़ा ही परिवर्तन हुआ है। अब ये बातें सुनने में

आती हैं कि ईश्वर एक बिच्चा के बच्चे को सर्वकालीन ज्वाला में जलाता है। दिन पर दिन अधिकतर दयालु ईश्वर की बातें सुनाई देती हैं और क्रोधी और द्वेषी ईश्वर की बातें कम होती जाती हैं। अब मनुष्यों को ईश्वर से डरने के स्थान पर उसे प्रेम करना सिखाया जाता है। यह परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से हो रहा है। और भी अच्छी बातें आगे आनेवाली हैं। परन्तु हमें इस बात को भूलना न चाहिये कि मजहबी शिक्षा का प्रत्येक रूप, प्रत्येक मत, प्रत्येक सम्प्रदाय, चाहे उस के उपदेश और आराधन कैसे ही अनगढ़ क्यों न प्रतीत होते हों, जाति के मजहबी विकास के आवश्यक पद को भरता है। प्रत्येक अपने अनुयायियों की आवश्यकताओं के अनुकूल है और प्रत्येक का आदर होना चाहिये। जब मनुष्य एक रूप और भावना को पार कर जाते हैं, तब गुरु लोग उस शिक्षा के आपत्तिजनक भागों को त्याग देते हैं और शिक्षा को परिवर्तित करके वर्तमान भावना के अनुकूल बना देते हैं। सच्चे गुरु लोग अपने शिष्यों से आगे देखते हैं और जानते हैं कि अभी परिवर्तन का समय नहीं आया है। परिवर्तन क्रमशः होता है। आज की धार्मिक शिक्षायें हमारे पूर्व पुरुषों को नास्तिकता प्रतीत होतीं; पार किए हुए मत त्यक्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर नये आ जाते हैं पर तौ भी सम्प्रदाय वही पुराना नाम धारण किए रहता है। यह बात उस लड़के की कथा की भाँति है जिसका चाकू कई बार मरम्मत किया गया हो। उसमें चार बार नये बेंट लगे, छ बार नये फल लगे पर तौ भी वह वही पुराना चाकू रहा। हम में से बहुत से मनुष्य जब

किन्हीं भावना के ऊपर चले जाते हैं तब उन मनुष्यों पर अधीर हो उठते हैं और निरादर प्रगट करते हैं जो उसी भावना के वृत्त में रह गये हैं जिस मे हम बाहर आगये हैं। यह सब अनुचित बात है। जो रह गये हैं वे उसी जगह हैं जहां के वे हैं. वही स्थान इस समय उनके लिये अनुकूलतम है। जब वे अपने सम्प्रदाय मे ऊपर उन्नति करेंगे तब वे उसे इस प्रकार छोड़ देंगे जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़ देता है। हम लोग यदि अधीर हों तो वैसाही अनुचित है जैसा उनके लिये अधीर होना अनुचित था। भक्तियोग का सच्चा शिष्य उन सब के लिये गहरी सहानुभूति और पूरी उपेक्षा दिखावेगा जो ईश्वर की खोज में हैं, इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं कि किस मार्ग से वे यात्रा कर रहे हैं और उनकी खोज की रीति क्या है। अविकसित मनुष्य अपने ईश्वरप्रेम को उन मनुष्यों पर घृणा प्रदर्शन द्वारा प्रगट करता है जो अपनी ईश्वर विषयिक भावना में उससे भिन्न होते हैं। यह ऐसा समझता हुआ प्रतीत होता है कि यह अविश्वास या विश्वासभेद ईश्वर का अपमान है और हमें, जो परमेश्वर के भक्त हैं, इसकी प्रतिक्रिया करनी चाहिये। इससे ऐसा समझ में आता है कि ईश्वर को अपने शत्रुओं के विरुद्ध हमारी सहायता की आवश्यकता है। यह बालकपन की भावना है और उन लोगों के उपयुक्त नहीं है जो आध्यात्मिक यौवन को प्राप्त हो रहे हैं। इसके विपरीत उन्नत मनुष्य परमेश्वर के सब भक्तों के सम्बन्ध को जानता है, चाहे उनकी कुछ भी भावना क्यों न हो और सब को एक ही मार्ग का पथिक समझता है। ईश्वर की भक्ति करने का यह

पथ है कि उससे प्रेम किया जाय नकि किसी साथी मनुष्य पर घृणा की जीय।

मानुप-ईश्वर की उपासना चाहे वह वन्य मनुष्य के ईश्वर की उपासना हो, चाहे सुशिक्षित मनुष्य के ईश्वर की, सब गौणी भक्ति है। जब मनुष्य इस मानुपता की भावना को त्याग देता है तभी वह परा भक्ति की कक्षा में पहुँचता है और उच्च भावना में परमेश्वर के बोध को प्राप्त होता है। यह नहीं कि ईश्वर मानुपता से हीन है, किन्तु यह कि वह मानुपता से भी अधिक है, उसके भी परे है, न कि उस के विपरीत है। परमात्मा से वैसा ही प्रेम किया जा सकता है जैसे कोई पिता या माता से, अपने बच्चे से, अपने मित्र से अथवा अपने प्रेमी प्रियतम से प्रेम करे। ईश्वर अपनी सत्ता में उन सब गुणों को धारण किये है जिनमें प्रेम के ऐसे रूपों की आवश्यकता होती है और प्रत्येक याचना पर ध्यान देता है। सच तो यह है कि मनुष्य और ईश्वर के बीच में प्रेम प्रतिवर्तन की आकांक्षा ही न होनी चाहिये। जैसे मनुष्य धूप में आकर अपने को सूर्य की किरणों का पात्र बना देता है वैसे ही ईश्वर का भक्त मानो ईश्वर-प्रेम की किरणों के प्रवाह में आ जाता है और उनके लाभ को प्राप्त करता है। ईश्वर के साथ प्रेम ही करना अपने को ईश्वरप्रेम को धारण करने के उन्मुख कर देना है। यदि किसी को पिता के रक्षणशील प्रेम की आवश्यकता हो तो उसे केवल इतना ही करना होगा कि पिता के प्रेम के लिये उन्मुख हो जाय। यदि मनुष्य को मृदु सहानुभवी मातृ-प्रेम की आवश्यकता हो तो वह माता के प्रेम का उन्मुख मात्र

होने से उसे प्राप्त करने लगता है। यदि कोई ईश्वर पर अपने बच्चे की भाँति प्रेम करे तो ऐसा प्रेम उसके लिये वैसा ही तुला है, और बहुत से लोग जिन्हें प्रेम के इसी रूप की आवश्यकता है पर जिन्होंने ईश्वर को पुत्र रूप समझने में उसका अपमान समझा है, उन्हें इस रूप के प्रेम से जान पड़ेगा कि हृदय की अनेक विदारक पीड़ायें हट गईं और उन्हें वैसा ही सुख प्राप्त होगा जैसा प्यारे पुत्र के आलिंगन से प्राप्त होता है। पश्चिमीय मजहब इस अन्तिम रूप के प्रेम का अनुभव अपनी ईश्वरभक्ति में नहीं रखते, परन्तु पूर्वीय मजहबी इसको जानता है, और किसी हिन्दू स्त्री का अपने को ईश्वरमाता समझना बिलकुल ही असाधारण बात नहीं है। पश्चिमीय मन को यह बात बहुत ही आश्चर्यजनक प्रतीत होगी. परन्तु ऐसी स्त्री या ऐसे पुरुष समझते हैं कि ईश्वर प्रेमविषयिक प्रत्येक आकांक्षा की पूर्ति करता है। मनुष्य ईश्वर के साथ मित्र, भाई और साथी की भाँति प्रेम कर सकता है। ईश्वरभक्ति के ये सब रूप भक्तियोगी पर विदित हैं। पश्चिमीय मजहब में ईश्वर प्रति भक्ति का केवल ही एक रूप है जो बच्चा अपने पिता की भक्ति में रखता है, परन्तु प्रत्येक हृदय को माता के प्रेम की भी समय २ पर आवश्यकता होती है। ईश्वर न तो पुरुष है और न स्त्री। ये दोनों रूप उसके एकांगी द्योतक हैं; उसके भीतर सब रूप हैं जिनमें से बहुतों को अबतक हम जानते भी नहीं हैं।

भक्तियोगी जानता है कि इस अनवरत प्रेम के द्वारा हम उसके अधिक २ निकट पहुँचते जायँगे और एक दिन हम उस चेतना और ज्ञान को प्राप्त हो जायँगे जिसमें सच्चा सम्बन्ध है। वह

ईश्वरभक्त, जो गौणीभक्ति की कक्षा के पार नहीं गया है, इस प्रेममहिमा को नहीं जान सकता और उस सामीप्य के सुख को नहीं अनुभव कर सकता जिसको पराभक्ति की कक्षावाला जानता और अनुभव करता है। एक की तुलना उस छोटे बच्चे से की जा सकती है, जो अपने खेल के सखा का इच्छुक है, पर यह ख्याल करता है कि हम प्रेम को समझते हैं। दूसरे की उपमा इससे दी जा सकती है कि मानो वही बच्चा बढ़कर प्रौढ़ युवा हो गया है और अपने प्रीतम के लिये गम्भीर, पवित्र और श्रेष्ठ प्रेम का अनुभव कर रहा है। एक तो परमेश्वर को केवल एक स्थान पर स्पर्श करता है, परन्तु दूसरेको यह जान पड़ता है कि ईश्वर प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करता है और सहस्रों स्थानों पर स्पर्श किया जा सकता है। परमेश्वर सूर्य की भाँति वर्तमान है, और मनुष्य के लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि धूप में निकल आवे। सूर्य केवल इतना ही चाहता है कि बाहर आ जाओ और धूप तुमारे लिये उपस्थित है, वैसे ही ईश्वर भी इतना ही चाहता है कि उन्मुख हो जाओ और ईश्वरप्रेम तुमारे लिये उपस्थित है।

शिष्य को यह न समझना चाहिये कि भक्तियोग का प्रेम वह आवेशमय और भावनामय पदार्थ है जैसा कि अकसर "हाल" की दशा में पाया जाता है। नहीं, ऐसे योग के अनुयायी उच्च आचार और गम्भीर विचारवाले होते हैं। वे चिल्ला चिल्ला कर अपने को मत्त उत्तेजना में नहीं डाल देते। इसके स्थान पर वे जीवन में अपने कार्यों को करते, जीवन जीते हुए परमेश्वर की उस अचलभक्ति से परिपूर्ण रहते हैं, जो

परमेश्वर के सम्बन्ध और सामीप्य की चेतना से उत्पन्न होती है। वे अनुभव करते हैं कि हम परमेश्वर ही में जी और चल रहे हैं, और परमेश्वर हमसे दूर नहीं है, किन्तु सर्वदा हमारे शरीर की अपेक्षा हमसे अधिक समीपतर है। वे परमेश्वर को सर्वत्र देखते हैं और ऐसा समझते हैं कि प्रत्येक क्रिया में हम परमेश्वर की उपासना कर रहे हैं। वे ज्ञानपूर्वक मुक्ति-पद को ढूँढ़ते हैं और अनुभव करते हैं कि वह पद अपने भीतर ही है और सर्वत्र भी है। वे अपने को जीवन के प्रति-क्षण में स्वर्ग ही में समझते हैं। वे सर्वदा सर्वत्र प्रति कार्य में ईश्वर की उपासना ही करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में प्रत्येक स्थान ईश्वरमन्दिर है। वे सर्वदा ईश्वरीय शक्ति से भरे, सर्वदा उसके ज्ञान और दर्शन में और सर्वदा उसके समक्ष अपने को अनुभव करते हैं। वे निर्भय रहते हैं। प्रेम उनके हृदय में इतना भरा रहता है कि अन्य वस्तु के लिये अवकाश ही नहीं मिलता। उनके लिये प्रेम सब भय को निकाल भगाता है। ऐसे मनुष्य के लिये प्रत्येक दिन पवित्र दिन और प्रत्येक पहाड़ी, मैदान, क्षेत्र और गृह ईश्वरमन्दिर है। उनके लिये प्रत्येक मनुष्य पुरोहित और पुजारी है, प्रत्येक बालक ईश्वरवेदिका का सेवक है। वे पुरुष, स्त्री और बालक के ऊपरी रूप को भेद कर भीतरी आत्मा को प्रायः ऊपरी कुरूप शरीर से आच्छादित देखते हैं।

भक्तियोगी यह नहीं देखता कि ईश्वर मनुष्य की भक्ति की आकांक्षा कर रहा है अथवा वह उन मनुष्यों पर कृपा करता या उन्हें पुरस्कार देता है जो उसकी भक्ति करते हैं, अथवा उन लोगों को दण्ड देता है जो उसकी भक्ति नहीं

करते। वह ऐसी भावनाओं को सच्चे भक्त के लिये अनुपयुक्त समझता है। वह जानता है कि परमेश्वर ऐसी भावनाओं और ऐसे गुणों से परे है। वह जानता है कि परमेश्वर का प्रेम अपने सभी बच्चों पर है, इसका कुछ विचार नहीं कि वे उसकी भक्ति करते हैं या नहीं, या वे उसकी उपासना करते हैं या नहीं। वे जानते हैं कि ईश्वर सेवा या कर्त्तव्य-पालन कराने की आकांक्षा नहीं करता। वे परमेश्वर की उपमा सूर्य से देते हैं जो सबको सम समझता है और जो न्यायी और अन्यायी दोनों पर सम भाव से चमकता है। उसकी किरणें उन लोगों के लिये भी हैं जो उसकी सत्ता को अस्वीकार करते हैं। भक्तियोगी यह भी समझते हैं कि जो अपने को ईश्वर-प्रेम के लिये उन्मुख कर देता है उसके लिये लाभ और पुरस्कार भी है, ईश्वर की कृपा की भाँति नहीं, वरन् मनुष्य के कार्य के प्रतिफल के रूप में। जैसे वह मनुष्य जो सूर्य की धूप में आ जाता है सर्दी से बच जाता है और अपने ही कर्म का फल भोगता है, वैसे ही जो मनुष्य ईश्वरप्रेम रूपी धूप में आ जाता है, जो धूप कि उसके आगमन की प्रतीक्षा में है, वह मनुष्य ऐसे प्रेमाभाव रूपी सर्दी से बचता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राच्य लेखों में सूर्य परमात्मा की प्रतिमा व्यवहार होता है। इस प्रतिमा को सब पवित्र ग्रन्थों में हम पाते हैं, यहाँतक कि बाइबिल में भी जिसका उत्पत्तिस्थान प्राच्य ही संसार है।

भक्तियोगी ईश्वर की प्रार्थना करता है। गौणी भक्ति की प्रारम्भिक दशा में वह ऐसी प्रार्थना करता हुआ भी जाना जाता है

कि वह ईश्वर से किसी प्रसाद के लिये याचना कर रहा है, जो याचना पीछे क्रमशः छूट जाती है। अविकसित अध्यात्म का मनुष्य याचक की भाँति ईश्वर के यहाँ आ सकता है, और इस बात, उन्न यान और भौतिक पदार्थों के लिये याचना कर सकता है। थोड़ा आगे चलकर मनुष्य समझ जाता है कि यह रीति ईश्वर के यहां जाने की नहीं है और तब वह बल, धैर्य और आध्यात्मिक विकास की याचना करता है। इस दशा में वह विश्वास करता है कि ईश्वर प्रार्थना के पुरस्कार में शक्ति, धैर्य आदि प्रदान करता है, जैसे राजा अपने याचकों को दान देता है। परन्तु परा भक्ति वाला योगी ऐसे पुरस्कारों की आशा नहीं करता पर तो भी उसे सर्वोत्तम पुरस्कार प्राप्त होता है। वह जानता है कि प्रार्थना से ईश्वर को कोई लाभ नहीं होता, न ईश्वर प्रार्थना से प्रसन्न ही होता है। परन्तु तो भी प्रार्थना मनुष्य के बड़े लाभ की वस्तु है, क्योंकि प्रार्थना के द्वारा मनुष्य अनन्त के साथ आपना स्वर मिला सकता है और अपने को उस शक्ति, धैर्य और ज्ञान के लिये खोल देना है जो ईश्वर के सामीप्य से प्रगट होते हैं। यही प्रार्थना का रहस्य है। जो मनुष्य अन्तःकरण से प्रार्थना करता है—हृदय से—वह अपने को परमात्मा के समीपतर स्पर्श में ले आता है। चाहे शब्द न उच्चारण किये जायँ, प्रार्थना की मानसिक दशा ही मनुष्य को एक प्रकार की ऐसी सायुज्य दशा में ले आती है कि अनन्त पुरुष का ज्ञान और शक्ति उस मनुष्य में होकर बहने लगते हैं। परन्तु हम में से अधिकांश लोग शब्दों का व्यवहार करना अधिक पसन्द करते हैं और

उन्हें मन की समुचित दशा लाने में सहायक पाते हैं । शब्द केवल सहायक मात्र है । ईश्वर से कुछ कहने के लिये शब्दों की आवश्यकता नहीं है । जब परिमित मन अपरिमित मन की पुकार करता है तो सन्देश सुन और समझ लिया जाता है ।

प्रार्थना को फलवती होने के लिये केवल मौखिक ही न होना चाहिये, सुग्गा की भाँति केवल शब्दों का उच्चारण ही न करना चाहिये, क्योंकि ऐसे खेलों से ईश्वरीय शक्ति और ज्ञान के प्रवेश के लिये मन खुलता नहीं । मनुष्य को ईश्वर के साथ हृदय प्रति हृदय वार्तालाप करना होगा । इसलिये नहीं कि अपनी आवश्यकताओं को ईश्वर से कहने की जरूरत है । वह हम लोगों की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह जानता है, किन्तु हार्दिक वार्तालाप के द्वारा हम अपने मन को समुचित रीति से खोल देते हैं । पात्र के मुख को खोल देते हैं और ईश्वरीय शक्ति और प्रेम उसमें भर जाते हैं । ईश्वरीय शक्ति और ज्ञान हमारे ही हैं यदि हम अपने को उनके लिये खोल रक्खें । इस सम्बन्ध में बस इतना ही है । ईश्वरीय शक्ति और प्रेम सूर्य की धूप की भाँति खुले हुए हैं, परन्तु हमको उन अवरोधों को हटाना पड़ेगा जिन्हें हमने खड़ा कर लिया है । हम लोगों ने परमेश्वर को अपने से दूर कल्पना कर रक्खा है और हमें इस चेतना को जगाना पड़ेगा कि वह ठीक यहां अब भी है । ईश्वर से वैसे ही बातें कीजिये जैसे आप पिता, माता, प्यारे बालक, मित्र, पति, पत्नी अथवा प्रियतम से बातें करते हैं । वह यह सब कुछ और इससे अधिक भी है, और जिस रूप में आप घनिष्ठतम सम्बन्ध समझते हों, उसी रूप

का व्यवहार कीजिये। परमेश्वर को निकटस्थ होने की भावना कीजिये और वह निकट ही है। बहुत ललित शब्द आवश्यक नहीं है। उन्हीं शब्दों का व्यवहार करो जिन्हें तुम उन प्रियतम मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हो जो तुम्हें अत्यन्त प्यार करते हैं। परमेश्वर राजा की भांति सिंहासन पर नहीं बैठता है कि आप उसके चरणों पर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करें और डरते डरते अपना अभिप्राय कहें। वह आपको अपने पास बैठने की आज्ञा देता है और वह अपनी भुजा आपके कंधे पर डालता है। आपको अपने घरवाले सा समझता है। आप अपने भय लज्जा और संकोच को भूल जाइये और अपनी कथा अपने ही शब्दों में सुना जाइये।

यह कल्पना मत कीजिये कि ईश्वर को आपकी सलाह या चेतावनी की आवश्यकता है। आपको उसमें पूर्ण विश्वास रखना होगा और आपका यह जानना होगा कि ईश्वर आपके साथ रहेगा और आपको पथ-प्रदर्शन करेगा। आपका मन उस ज्ञान से भर जायगा जिससे आप जान जायेंगे कि कैसे कार्य करने होंगे, तब आपको कार्य करने की शक्ति प्राप्त होगी। यदि मन इस स्थिति को न ग्रहण कर सके, यदि आपके सम्मुख पथ न खुले तो आप अपने को दैवी प्रेम के लिये खोल दीजिये और तब आपको आत्मा द्वारा ग्रहण करने के लिये पहला पग मिल जायगा। तब उस पहले पग को श्रद्धापूर्वक ग्रहण कीजिये। यह केवल मन्दिर की वार्ता नहीं है जैसी कि रसम के अनुसार सर्वदा आप के कानों में पड़ती रहती है। यह महत् यथार्थ बात है और सहस्रों इसी प्रकार

जी रहे हैं। क्रमशः इस जीवन में आपको धैर्य और श्रद्धा होती जायगी और आप अनुभव करने लगेंगे कि कैसा वृहन् क्षेत्र आपकी दृष्टि के सम्मुख खुल गया है।

परमेश्वर के साथ अपना सम्बन्ध विचारने में प्रधान भावना यह है कि परमेश्वर जीवन का केन्द्र है। वह केन्द्र है और हम उन किरणों के परमाणु हैं जो उससे निकल रही हैं। हम उससे पृथक् नहीं हैं, यद्यपि हम लोग स्वयम् केन्द्र नहीं हैं। हम लोग उसी प्रकार उससे जुटे हैं जैसे किरणें सूर्य से जुटी रहती हैं। जो शक्ति और ज्ञान किरणों द्वारा प्रवाहित होते हैं वे हमारे हैं यदि केवल हम उन्हें वर्तना चाहें और उन्हें अपने को वर्तने दें।
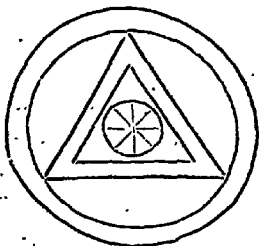
ऊपर जो चित्र दिया गया है उसके केन्द्र में जो छोटा सा वृत्त है वह इस कथन का द्योतक है। चित्र अपूर्ण है क्योंकि इससे विदित होता है कि किरणें सान्त हैं, परन्तु परमात्मा की किरणें सान्त नहीं हैं, वे अनन्त हैं। परन्तु परिमित चित्रों द्वारा हम अनन्त का द्योतन नहीं कर सकते और इसलिये किरणों के गिर्द एक वृत्त अवश्य खींचना पड़ेगा, और यह वृत्त

मनुष्य के परिमित बोध का द्योतक है। यदि आप परमेश्वर और उसकी किरणों की इस भावना को अपने मन में अंकित कर लेंगे तो आप अपने को इस विषय को क्रमशः अधिक २ अनुभव करते पावेंगे। केन्द्र तो निर्मल आत्मा है—ईश्वर है—और ज्यों ज्यों हम आत्मा का विकास करते हैं त्यों त्यों हम केन्द्र के अधिक अधिक निकट होते जाते हैं। जिन लोगों में आत्मा अच्छी भाँति जागृत नहीं हुई है वे केंद्र से दूरी पर हैं और जो लोग अध्यात्म में वहुत वढ़े हुए हैं वे केन्द्र के वहुत ही सन्निकट हैं। ज्यों ज्यों केन्द्र से परमाणु दूर होता गया त्यों त्यों अधिक भौतिक होता गया। ज्यों ज्यों केन्द्र के निकट पहुँचता गया त्यों त्यों आध्यात्मिक होता गया। इस ग्रह से वहुत दूर इतने स्थूल परमाणु हैं कि जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। और केन्द्र के निकट ऐसी उन्नत सत्तायें हैं कि मनुष्य की बुद्धि उनको समझने में असमर्थ हो जाती है। जैसा कि हम लोग जानते हैं कि मनुष्य चैतन्यजीवन के दोनों छोरों के बीच में है। सोपान में चैतन्य सत्तायें हम लोगों से इतने ऊंचे पर हैं जितना हम लोग नीचातिनीच मछलियों से ऊंचे हैं। परन्तु ये नीचातिनीच जीव भी ईश्वरीय प्रेम के वृत्त के अन्तर्गत हैं। तव हम डरें क्यों? क्यों हिम्मत हारें? हम मर सकते नहीं—हमारा नाश हो नहीं सकता—हम लोग प्रवल समष्टि के अंश हैं और सर्वदा केन्द्र की ओर गति कर रहे हैं, सर्वदा विकस और वढ़ रहे हैं। क्यों और किस लिये ऐसा है, यह वात तो केन्द्रस्थ चेतना के अन्तर्गत है, यद्यपि ज्यों ज्यों मनुष्य अध्यात्म में उन्नति करता है, त्यों त्यों वह

तथ्य के अंशों को ग्रहण करने लगता है। ज्यों ज्यों वह केन्द्र की ओर आगे बढ़ता है त्यों त्यों वह शक्ति और ज्ञान में वृद्धि करता जाता है—ये दोनों ईश्वरीय गुण हैं। सब शक्ति और ज्ञान केन्द्र ही से उदित होते हैं और ज्यों ज्यों हम केन्द्र के निकट पहुँचते जाते हैं त्यों त्यों वे किरणें जो हम पर पड़ती हैं अधिक अधिक शक्तिमती होती जाती हैं। ईश्वरीय गुणों—सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता—के हम अधिक अधिक मात्रा में भागी होते जाते हैं। यह प्रबल सत्य की सूचना है। क्या इसे ग्रहण करने के लिये आप तैयार हैं?

एक क्षण के लिये भी इस बात की कल्पना मत कीजिये कि ईश्वर के भक्त को अस्वाभाविक जीवन जीने की आवश्यकता है जिससे ईश्वर प्रसन्न हों। मनुष्य पूर्ण रीति से स्वाभाविक जीवन जिये; सब जीविकाओं, मनबहलावों और आमोद प्रमोदों में सम्मिलित हो जिन्हें वह उचित समझे। स्वतन्त्रता पूर्वक पसन्द कीजिये। न तो बलात् किसी वस्तु का ग्रहण कीजिये न बलात् त्याग कीजिये। यह मत कल्पना कीजिये कि रूखी और गम्भीर आकृति ईश्वर को हँसमुख और प्रसन्नवदन से अधिक प्रिय है। स्वाभाविक बने रहिये, बस यही सब कुछ है। जो पुरुष या स्त्री ईश्वरीय प्रेम को अपने में प्रवाहित देखते हैं, वे प्रायः सुखी और प्रसन्न वदन रहते हैं, सर्वत्र प्रकाश फैलाते रहते हैं। उनको यदि वे चाहें तो हँसने, गाने और नाचने से डरना न चाहिये, क्योंकि ये सब बातें अच्छी हैं यदि हम इनके वशीभूत न हो जावें। हमें धूप, वर्षा, ताप और शीत को भोग कर सुखी होना चाहिये।

हमें मैदान, पहाड़, सूर्योदय और सूर्यास्त सब में प्रसन्न रहना चाहिये। हमें प्रकृति की वस्तुओं का पूरा उपभोग करना चाहिये। ज्यों ज्यों हम ईश्वर के निकट पहुँचते जाते हैं त्यों त्यों हम प्राकृतिक वस्तुओं का अधिक अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। हमें स्वाभाविक सरल जीवन जीना चाहिये। हमें प्रत्येक वस्तु को उत्तम समझना चाहिये और प्रत्येक वस्तु से लाभ उठाना चाहिये। हम सब प्रसन्नवदन और प्रिय रहें। हमारे जीवन की कुञ्जी "आनन्द, आनन्द, आनन्द" रहे।

एडवर्ड कार्पेन्टर अपनी कविताओं में से एक में उस आनन्द के इस भाव को कहता है, जो उस मनुष्य को प्राप्त होता है जो ईश्वरीय प्रेम को अपने में प्रवाहित देखता है और जो उस परमेश्वर के स्वभाव का अनुभव करता है और उसके साथ अपना सम्बन्ध प्रतीत करता है। वह कहता है कि:—

"मैं ओसमय रात्रि में जगता हूँ और अपने पंखों को झाड़ता हूँ। अब आंसू और विलाप का तो नाम भी नहीं है। जीवन और मरण दोनों मेरे सम्मुख पड़े हैं। मैं मधुर प्राण को श्वास ले रहा हूं जो ईश्वर के श्वास से निकलता है।

"मेरा जीवन विश्व की भाँति गम्भीर है, और मैं उसे जानता हूं। इस ज्ञान को कोई बात भी नहीं हटा सकती; न कोई मेरा नाश कर सकता, न कोई मुझे हानि पहुँचा सकता है।"

"आनन्द, आनन्द का उदय है। मैं उठता हूँ। सूर्य मुझ में आनन्द की किरणें भेजता है। रात्रि उन्हें मुझमें से प्रतिकीर्ण करती है। मैं रात्रि में पंख ग्रहण करता हूं और संसार

के सारे स्थानों में विचरता हूं, और प्राचीन अन्धकार अपने आंसुओं और मृत्यु को खींचे रहता है—और मैं हँसते हँसते वापस आता हूँ। अपने फैले हुये पंखों पर नक्षत्रों का प्रकाश धारण किये हुए हम दोनों—आनन्द, आनन्द, आनन्द!"

परमेश्वर का सच्चा भक्त सुखदर्शी होता है। वह चीजों के उज्ज्वल पटल को ढूँढ़ता और पाता है। वह अँधेरे में भी उजाला निकालता है। वह जीवन में हँसते हुए गाते हुए और परमात्मा में स्थायी श्रद्धा के साथ गति करता है। वह जीवन के 'सर्व' से प्रेम करता है और आशा, धैर्य और सहायक उपदेशों का सन्देश दिया करता है। वह उदार और सहिष्णु होता है। दयालु और क्षमाशील रहता है, घृणा, ईर्षा, और द्वेष से पृथक, भय और शोक से मुक्त रहता है। वह अपने ही कार्य में ध्यान रखता है और दूसरों को भी यही अधिकार देता है। वह प्रेम से भरपूर है और उस प्रेम को सारे संसार में वितरित करता है। वह अपनी ही सुखमय रीति से जीवन में गति करता है। उसे उन वस्तुओं से आनन्द मिलता है जिनसे अन्य लोग निराशा और दुःख प्राप्त करते हैं। वह पत्थरमय पथ से भी अक्षत यात्रा करता है। उसको शान्ति भीतर से मिलती है और जो लोग उससे मिलते हैं, उसके प्रभाव का अनुभव करते हैं। वह मित्रों और उनके प्रेम को ढूँढ़ता नहीं। ये बातें उसके पास आप से आप आती हैं। उसकी पुरस्कार हैं और उसकी ओर खिचती हैं। वह साधारण मजदूर के झोपड़े में वैसे ही सुख से रहता है जैसे धनियों

के महलों में। दोनों स्थान उसे घर से प्रतीत होते हैं। साधु और दुष्ट दोनों का वह भाई है, क्योंकि वह समझता है कि प्रत्येक अपने यथासाध्य अच्छा ही कर रहा है। वह पापी में भी भलाई ढूँढ़ता है, नाकि साधु में बुराई। वह जानता है कि स्वयम् मैं भी पाप से रहित नहीं हूँ, इस लिये वह किसी पर पत्थर नहीं फेंकता। पतित मनुष्य भी उसे भाई समझता है। जो स्त्री अग्निमय कुण्ड से निकली है वह भी उस पर विश्वास करती है और उससे डरती नहीं, क्योंकि वह जानती है कि वह समझता है। वह सूर्य के निकट होने के कारण जानता है कि सूर्य साधु और पापी दोनों पर चमकता है। वह अनुभव करता है कि यदि ईश्वर अपने अत्यन्त विमुख बच्चे से अपनी किरणों को रोक रक्खे तो मनुष्य भी अपने प्रेम को अपने पतित भाइयों और बहनों से रोके। वह किसी को पतित नहीं करार देता। वह ईश्वर के अधिकार को आप वर्तने का यत्न नहीं करता। वह कार्य करता है और अच्छी तरह करता है। उसे अपने काम में आनन्द मिलता है। वह वस्तुओं को उत्पन्न करना चाहता है और इस चाहना का गर्व रखता है, क्योंकि यह चाहना उसे पिता से पैतृक सम्पत्ति की भाँति मिली है। वह अत्यन्त तेजी और शीघ्रता नहीं करता, क्योंकि उसके पास पुष्कल समय है, क्योंकि अनन्त काल बहुत दिन तक रहता है और अब वह उसी अनन्त काल में है। उसकी स्थायी श्रद्धा परमात्मा में रहती है। वह अनन्त न्याय और अन्तिम भलाई में विश्वास रखता है। वह जानता है कि परमापिता निकट ही हैं, क्योंकि उसने उनके अदृश्य हाथों का

अनुभव कर लिया है। रात्रि के अन्धेरे में भी उसने पिता की उपस्थिति का अनुभव किया है, ज्योति की झलक में उसने पिता के रूप को क्षणभर देख लिया है और वह स्मृति उसके मन में प्रकाशित हो रही है। वह सरल, प्रेममय और कृपालु होता है। वह भविष्यत् का जानकार है। यदि आप उसकी भाँति हुआ चाहें, यदि आप पुकार का अनुभव करें, तो आप उसे रोकिये मत, किन्तु प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दीजिये कि "मैं सुनता हूँ, आज्ञा शिरोधार्य है, मैं आता हूँ"। जब आप को प्रेरणा प्रतीत हो तो रुकिये मत, अपने को सूर्य के सम्मुख खोल दीजिये, उसकी किरणों को ग्रहण कीजिये, और सब भला होगा। भयभीत न हूजिये, अपने भीतर उस प्रेम को धारण कीजिये जो भय को निकाल फेंकता है। अपने हाथ को परमात्मा के हाथों में रख कर कहिये कि "हमें लिवा ले चलिये"। बहुत दिन के भ्रमण के पश्चात् आप घर आ रहे हैं।

कदाचित् आप ख्याल करें कि आप ईश्वर की भक्ति करते हैं, और जानते हैं कि कैसे ईश्वर की भक्ति की जाती है। हिन्दुओं की इस कहानी को सुनिये और तब देखिये कि आप भक्ति करते हैं कि नहीं। कहानी इस प्रकार है:—

एक समय एक चेला एक योगी गुरु के पास आया और पराभक्ति की उच्च शिक्षाओं की प्राप्ति की प्रार्थना की। उसने कहा कि मुझे आरम्भिक कक्षाओं की बातों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मैं पहले ही से ईश्वरभक्ति करना जानता हूँ"। योगी उस नवयुवक पर मुस्कुरा दिये। वह बार बार आता

और यही प्रार्थना करता और वही उत्तर पाता। अन्त में वह अधीर हो उठा और योगी से हठ करके पूछने लगा कि आप क्यों नहीं बताते।

तब योगी उस नवयुवक को एक बड़ी नदी के तीर पर ले गये और उस नदी में ले जाकर पानी में डुबाकर वहां ही उसे रोक रक्खा। नवयुवक बहुत छटपटाया, परन्तु अपना सिर पानी की सतह के ऊपर नहीं उठा सका। अन्त में योगी ने उसे पानी से निकाला और उससे पूछा:—"पुत्र, जब तू पानी में था तो तेरी प्रबल कामना किस बात की थी?" नवयुवक ने हाँफते हुए उत्तर दिया कि श्वास लेने की। योगी ने कहा कि "ठीक है, जब तू ईश्वर की वैसी ही इच्छा करेगा जैसी इच्छा श्वास की करता रहा है, तब तू भक्ति की उच्च कक्षाओं के योग्य होगा—तब तू ईश्वरभक्ति निश्चय प्राप्त करेगा"।

आपको शान्ति प्राप्त होवे!

मुद्रक—ग० कृ० गुर्जर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।
प्रकाशक—ठा० प्रसिद्ध नारायण सिंह, कादिराबाद जि० गाजीपुर।

योगी रामाचारकजी की योग ग्रन्थावली

डा० प्रसिद्धनारायण सिंह द्वारा अनुवादित ।

श्वासविज्ञान अर्थात् प्राणायाम ।

सन्निविष्ट विषयः—जय हो, श्वास ही जीवन है, श्वास क्रिया पर स्थूल विचार, श्वास क्रिया पर सूक्ष्म विचार, नाड़ी संस्थान, नाक से श्वास लेना और मुँह से श्वास लेना, श्वास लेने के चार प्रकार, योगी को पूरी सांस कैसे प्राप्त होती है, पूरी सांस का शारीरिक प्रभाव, योग विद्या के कुछ अंश, योगियों की प्रधान श्वास क्रियायें, योगियों की सात छोटी कसरतें, कम्प और योगी की तालयुक्त श्वास क्रिया, मनः संयुक्त श्वास का रूप, योगी की मानसिक श्वास के और भी प्रयोग, योगी की आध्यात्मिक श्वास क्रिया कुल १२५ सफहे मूल्य ॥)

हठयोग अर्थात् शारीरिक कल्याण ।

सन्निविष्ट विषयः—हठयोग क्या है ? शरीर पर योगी का ध्यान, दैवी कारीगर की कारीगरी, हमारा मित्र जीवन बल, शरीर की रसायनशाला, जीवन द्रव, देह में का स्मशान, पोषण, भूख और भोजनातुरता, भोजन से प्राण प्राप्त करना, देह की सिंचाई, शरीर यंत्र की राख और फुजला, योगियों की श्वास क्रिया, सही सांस लेने का प्रभाव, श्वास के अभ्यास, नाक तथा मुँह से श्वास, शरीर के अणुजीव, प्राण शक्ति, प्राण के अभ्यास, शिथिलीकरण, योग व्यायाम, स्नान, सूर्य की शक्ति, निद्रा, नवजनन, मानसिक स्थिति, आत्मा के अनुगामी बनो । कुल ३०५ सफहे । मूल्य १॥)

योगत्रयी

अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

सन्निविष्ट विषय:—

कर्मयोग में —प्रवृत्ति, योग का उद्देश्य और परिणाम, जीवन विकास, कर्म, विचार, कार्य और कारण, कामना, संसृति और असंसृति, व्यष्टि और पद्धति, दैवी प्रेरणा, सकाम और निष्काम कर्म।

ज्ञानयोग में—क्यों, किस लिये, कैसे और क्या, सत्य भीतर है, ईश्वर परमात्मा है, कार्यकारण शृंखला का आदि और अन्त परमात्मा, विश्व परमात्मा की निस्सृति, सर्व शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, परमात्मा के तीन रूप—द्रव्य शक्ति और मन, परा अभिव्यक्ति, परमात्मा के व्यंजन, गुणों की प्राप्ति, मैं ईश्वर हूँ, निस्सरण, विश्वजीवित है।

भक्तियोग में—प्रत्येक योगी भक्त उपासना का पोषण, परमात्मा विषयक भावना परिवर्तनशील, देवता, भिन्न २ पूजाओं का एक ही आराध्य देव, गौणी भक्ति, पराभक्ति, प्रतिमा, मजहब, आनन्द, प्रेम, आवेश, प्रार्थना, परमेश्वर जीवन का केन्द्र, भक्त सुखदर्शी होता है, इत्यादि।

पुस्तक में १०० सफहों से अधिक हैं। मूल्य ॥)

योगशास्त्रान्तर्गत धर्म ।

सन्निविष्ट विषय:—धर्म की परिभाषा, उचित अनुचित में भेद, उचित उचित में भेद, संशय, ईश्वरादेश, प्रतिभा और उपयोगिता की युक्तियाँ, तीनों में विरोध, धर्म में तीनों का समावेश, अन्तःकरण, प्रतिभा और प्रलोभन, आत्मज्योति और आवरण, जीव-विकास, विकास की भिन्न २ कक्षायें, इत्यादि। कुल करीब ८० सफहों की पुस्तक है। मूल्य ।=)

राजयोग ।

अर्थात्

मानसिक विकास ।

सन्निविष्ट विषय:—अहम्, इसकी दीक्षा में सहायता पहुँचाने की विधियाँ और अभ्यास, अहम् का अनुभव, जीव की अमरता और अदम्यता का अनुभव, जीव के मानसिक औजार, आपे का विस्तार, मानसिक साधन, मानसिक शासन प्रत्याहार, धारणा की महिमा, मनोयोग अर्थात् 'अवधान का' विकसाना, अवधान के लिये मानसिक अभ्यास प्रत्यक्षी करण का विकसाना, चेतना का विकास, मन की ऊँची नीची भूमिकायें, मानसलोक, अनुद्बोधन, अचेतन चरित्रगठन, अचेतन प्रभाव इत्यादि।

इस पुस्तक में करीब ३२५ सफहों के हैं। मूल्य १।।)

मिलने का पता:—

देशसुधार ग्रन्थमाला आफिस।

भोजूबीर,

बनारस।